



# प्रभाकर-निबन्धावली

लेखक तथा सम्पादक  
श्रीयुत गोपालचन्द्र देव

प्रकाशक  
विद्या भवन  
हस्पताल रोड, लाहौर

प्रथमवार]

१९३६

[मूल्य १।।।]

प्रस्ताव

१

इयानन्द पिशाद

विद्या भवन, दण्डाव रोड, सादीर

“विद्याऽनृतमदुर्मे”

गुरु

श्रीमती सुशीलादेवी

विद्या भवन प्रेम अनारवरी, सादीर

## लेख-सूची

संख्या	विषय	पृष्ठ
१—	प्रस्ता	१
२—	कवि और कविता ✓	१३
३—	भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा ✓	३३
४—	धर्म और सुग	४५
५—	मित्रता	५३
६—	सौन्दर्य	६१
७—	ग्रामों को लौट चलिये	७३
८—	कर्मवीर महाराणा प्रताप	८१
९—	हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि	८७
१०—	समाज और साहित्य ✓	९८
११—	साहित्य और हिन्दी साहित्य की प्रगति	१०८
१२—	आधुनिक शिक्षा-प्रणाली	१२५
१३—	इतिहास की उपादेयता ✓	१४२
१४—	विकासवाद या ह्रासवाद	१४६
१५—	योग्यतानुसूल व्यवसाय चुनना	१५६
१६—	स्वास्थ्यरक्षा	१६८
१७—	जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये आत्मसंयम अत्यन्त आवश्यक है	१७६
१८—	नम्रता	१८६

१६—आनन्द की ओर	१६७
२०—मितज्ययिता	२०७
२१—राष्ट्रभाषा हिन्दी जैसी होनी चाहिये <sup>१</sup>	२१५
२२—मनुष्यत्व और पशुत्व	२२२
२३—रस	२२८
२४—पूँजीपतियों की स्मर्यान्त्रता ही अशांति का कारण है	२३६
२५—सेवाधर्म	२४६
२६—भारतीय-शौर्य	२५४
२७—गन्ध और पद्म	२६३
२८—कबीर सिद्धान्त और रहस्यवाद ✓	२७०
२९—विज्ञान और भक्ति	२८६
३०—प्रकृति सौन्दर्य	२९२
३१—हिन्दी साहित्य में हास्य-रस	२९८

---

## निवेदन

हिन्दी अथ उन्नत भाषाओं के मनकल आ पहुँची है। माहिल्य के अन्य अक्षा के साथ साथ निरन्धर-रता का प्रयास भी अघाध है। सुपठित और अनपठित दोनों प्रकार के समाज में निधियों की माग दिनोदिन अधिक हो अधिक हो रही है। परीक्षाओं में भी निरन्धर-लेगन अनिवार्य है। निरन्धर-प्रेमियों और परीक्षार्थियों की आग्रह्यकताओं को ध्यान में रख कर हिन्दी में कई निरन्धर-संग्रह निकले हैं और उनमें लोग लाभ भी उठा रहे हैं। इतना होने पर भी हिन्दी की उच्च परीक्षाओं के लिए ऐसी एक ही पुस्तक की आवश्यकता थी, जिसमें भिन्न भिन्न विषयों पर विभिन्न शैलियों में सामग्री निरन्धर हो। इसी भाग को देखकर यह पुस्तक तैयार की गई है। अपना विचार तो सार निरन्धर रख्य लिखने का था, परन्तु इस प्रकार जैली और भाषा के अनवर विचार का प्रदर्शन हो पाता, यही मोच कर अपने पत्रल जगह ही निरन्धर दिए हैं जो निरन्धर अन्य प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों के उद्धृत किए हैं। हमारे लिये मैं विद्वान लेखकों का हृदय में धृतन हूँ।

प्रेम की धुटियाँ न आने देने का पूर्ण निश्चय करने पर भी दो चार धुटियाँ आ ही गई हैं। जैसे पृष्ठ १५७ के फुटनोट में 'सन्त परीक्षान्तरत् भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि' काटिने था और पृष्ठ २४८ पर २१वीं पंक्ति में 'अनवर' चाटिये। आशा है पाठक सुधार लेंगे। पुस्तक सम्पादन करत समय परीक्षोपयोगिता का अधिक ध्यान रखा गया है। पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध होगी।

गोपालचन्द्र देव

## निबन्ध लेखन

हिमो पदार्थ, व्यक्ति, गुण, स्वभाव आदि पर सुशोध भाषा में क्रमबद्ध और विस्तृत विचारों से युक्त लघु निबन्ध कहलाता है। प्रस्ताव प्रश्न आदि निबन्ध के ही पर्याय-वाचक हैं। हृन्त्य के भाषा और विचारों से थोड़ा तक पहुँचाने के कविता, उपन्यास, गल्प आदि अन्य साधना से इसकी अधिक महत्ता है। आजकल निबन्ध और निबन्ध-लेखक को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। समाज, धर्म और राजनीति में निबन्ध का बड़ा प्रभाव है। परीक्षाओं में भी विद्यार्थी की योग्यता को परखने की यही एक रसौटी है। अन्य विषयों में तो घोंटा लगा कर सफलता प्राप्त की जा सकती है, किन्तु निबन्ध के लिए अपनी बुद्धि और प्रतिभा का ही भार निभालना होता है।

निबन्ध लिखने के लिए अपनी बुद्धि को सूक्ष्म और प्रतिभा का तीव्र तथा विस्तृत बनाना आवश्यक है। उत्तमोत्तम विचारों से परिपूर्ण पुस्तकों के अध्ययन से भागों में वृद्धि होती है। पर पुस्तकों के चुनाव में भूल करने से लाभ होने की सम्भावना बहुत कम है। निम्न कोटि के उपन्यास आदि से भाषा और विचारों की पुष्टि और उनका परिमाणन हो सकना असम्भव है, क्योंकि निबन्ध-लेखन के लिए आवश्यक सामग्री का उनमें प्रभाव रहता है। यद्यपि चतुर भौरा उसमें से भी कुछ न कुछ रस ले ही लेता है, फिर भी सत्र के लिए यह सम्भव नहीं। तो भी किसी भी पुस्तक को पढ़ते समय उसमें से कुछ ले लेने की

भावना अवश्य बना लेनी चाहिए । स्वर्गीय श्री पद्मसिंह जी शर्मा  
 कहा करते थे "चाहे उपन्यास को पढो, उसमें से भी कुछ न कुछ  
 प्राप्त करो । पढते समय कागज पैमिल अग्रय हाथ में होनी  
 चाहिये ।" यह सत्य ही है । संस्कृत में 'रापी' को 'सञ्चिना'  
 कहा जाता है । जो अध्ययन शील व्यक्ति सञ्चिका को  
 वास्तव में सञ्चिना बनाते हैं वे उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक बन  
 जाते हैं । भावों और विचारों का कोश सञ्चित किये बिना  
 निबन्ध-लेखन में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती । हम प्रतिदिन  
 अनेक कार्य करते हैं, कई दृश्य देखते हैं, बहुत से साधारण और  
 कुछ एक असाधारण व्यवहार करते हैं, यदि हम नितान्त जड़  
 नहीं हैं तो हमें उनसे एक विशेष अनुभव प्राप्त होता है और  
 शिक्षा मिलती है । उस अनुभव और शिक्षा को ले लेकर भाव  
 पुञ्ज एकत्रित करने से निबन्ध लिखने की शक्ति बढ़ती है । पर्यटन,  
 नदी, वन, देश, विदेश आदि में भ्रमण करने से भी अनुभव  
 बढ़ता है । फिर उस सञ्चित राशि को व्यव करने से लेखक  
 सफल निबन्ध-लेखक बना जाता है । कहा भी है—

“सरस्वती के भण्डार की बड़ी अपूरण बात ।

ज्यों सर्चें त्यों त्या बढे पिन मर्चत घट जात ॥”

अभ्यास की उपेक्षा लेखन शक्ति-शुद्धता के लिये पनी पुरी  
 है । एक कवि ने कहा है कि अभ्यास के अभाव में विद्या विप हो  
 जाती है ।

ससार में नाना प्रकार के लोग हैं, भौति भौति के भाव  
 और विचार हैं, अतः निबन्धों के प्रकार निश्चित नहीं किये जा  
 सकते, फिर भी साधारण दृष्टि से निबन्धों को तीन विभाग किये  
 जा सकते हैं—वर्णनात्मक निबन्ध, आध्यात्मिक निबन्ध और



विचारात्मक निबन्ध । निबन्ध के प्रत्येक प्रकार के लिये पूर्ण अभ्यास की आवश्यकता है ।

जैसे आभारल करिया को कविता-निर्माण के लिये छन्द आदि बन्धनों का जाल गटकता है वैसे ही निबन्ध-लेखकों को भी निबन्ध में क्रम आदि का प्रतिबन्ध अस्तरता है । भूमिका, वर्णन, हानि लाभ, दृष्टान्त, उपसंहार—इस क्रम की उगली पकड़ कर चलने में उन्हें लज्जा आती है, भाषा की मूल-मुल्यव्या से उनका जी ऊब गया है । वे कविया की भाँति स्वातन्त्र्यवाद का पक्षपाती हैं । वे कहते हैं कि प्रतिबन्ध लगाने से भाषों की नगरी रुक जाती है और विचारधारा अस्तव्यस्त हो कर गँदनी हो जाती है । एक प्रकार से उनके ये विचार ठीक भी हैं । पर यह तो अत्यन्त उच्च लेखकों का पथ है । सर्व साधारण को अभी पहला पड़ाव पार करना है, इसलिये उनके लिये क्रम आदि का ध्यान रखना अनिवार्य है । उन्हें भाषा की सफाई और उत्कृष्टता को भी दृष्टि में रखना चाहिये, अश्लील, अप्रामिद्ध और लटमड़ाते शब्दों के प्रयोग से तथा पुनरुक्ति, वदतोव्याघात आदि दोषों से बचना आवश्यक है । यद्यपि शरीर प्रत्येक लेखक को अपनी-अपनी होती है, फिर भी उत्कृष्ट लेखकों की शैलिया का निरीक्षण उपान्य है, इससे अपनी शैली परिमार्जित हो जाती है, किन्तु अनुकरण करना कदापि अन्धा नहीं कहा जा सकता । भाषा और भावों का सौन्दर्य बढ़ाने के लिये अलंकारों की पुट प्रशस्तनीय है, परन्तु अलङ्कार ही अलङ्कार लाद देना कभी भी प्रशस्त नहीं ।

मर्वाङ्ग पूर्ण निबन्ध लिखने का मार्ग देखने के लिए यह अल्प सा प्रकाश है ।

## कला

सर्व-साधारण कला के दो ही अर्थों से परिचित हैं—  
 १ विद्या, जैसे शस्त्रकला और २—कुशलता, जैसे मभाषण-  
 कला। पर इनसे बढ़ कर और गहरा अर्थ भी कला का है।  
 एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय में तद्वत् पहुँचाने या  
 उद्गीत करने की विद्या का नाम भी कला है। भाषा जिस प्रकार  
 एक मनुष्य के मस्तिष्क के विचारों को दूसरे तक पहुँचाने का  
 साधन है उसी प्रकार कला एक के हृदय के भावों का दूसरे के  
 हृदय तक ले जाने वाला वाहन है। जो व्यक्ति अपने हृदय में  
 उठे शोक, आनन्द, विस्मय, क्रुणा आदि भावों को किसी उप-  
 करण की सहायता से दूसरे के हृदय में तद्वत् जागृत कर पाता  
 है, वह कलाकार कहा जाता है। कलाकार के उपकरण भिन्न-  
 भिन्न हो सकते हैं। कोई अपने स्वर की विशिष्ट रचना के द्वारा  
 कोई अपने डगित वा अग विक्षेप द्वारा, कोई अपनी कलम या  
 फूची के द्वारा और कोई अपनी वाणी के द्वारा उन भावों को  
 अपने हृदय से प्रकट और दूसरे के हृदय में जागृत करता है।  
 अतएव किसी कलाकार का उपकरण होता है उसका स्वर,  
 किसी का होता है उसका अग विक्षेप, किसी की कलम और  
 किसी की वाणी। स्वर के द्वारा अपनी कला का परिचय देने  
 वाले को हम संगीत पटु, अग-विक्षेप के द्वारा परिचय देने वाले  
 को अभिनेता या नट, कलम के द्वारा देने वाले को चित्रकार और

वाणी ये द्वारा देने वाले को कवि कहते हैं। स्थापत्यकारों की गणना भी कलाधरो में होती है। इस प्रकार उपकरण भेद से कला के भिन्न भिन्न विभाग हो गये हैं—संगीत-कला, नाट्य कला, चित्र कला, काव्य कला और स्थापत्य कला आदि। अक्सर लोग कला के इस भ्रम को नहीं जानते। चित्रा में केवल रंग-प्रिरंगे, चमकीले भड़कीले चित्र को 'अच्छा' कह बैठते हैं। वे तो इतना ही देखते हैं कि किस चित्र पर हमारी आँखें गड़ जाती हैं कौन सुन्दर है, कौन लुभावना है, किसे देखकर हमारी आँखों को आनन्द हाता है। उनकी आनन्द और सौन्दर्य सम्यन्धी धारणा भी उनके सस्कार न ही अनुरूप रहा करता है। चित्र कार और पत्रकार अक्सर उनकी सेवा के नाम पर, उनकी रुचि की दुहाई लेकर, ऐसे ही चित्रों के कनिष्ठ नमूने पेश करत रहते हैं जिससे उनके चित्र और पत्र खप जाएँ। सर्व-साधारण को व सस्कार हीन धारणाये ज्या की त्या बनी रहे तो गहें। इस कारण न सर्व-साधारण की कलाभिरुचि जागृत और परिष्कृत होती है न कला का विकास ही हो पाता है। वे बेचारे जान हा नहीं पाते कि अच्छा चित्र यह नहीं है जो आम तौर पर आँखों को सुन्दर मानूम हो, बल्कि वह है जिसे देख कर हृदय में उष, पवित्र निर्मल भाव उदय हों। ऐसे भाव उठें जिनके द्वारा आचरण को सुधारने की, देश सेवा, जन सेवा करने की, कायरता छोड़ने और पुरुषार्थ बढ़ाने की, दुर्व्यसन और दुराचार से मुक्त मोड़ने और सद्गुणों की वृद्धि करने की उमंग मन में पैदा हो। चित्र व अच्छे या बुरे होने की सय से अच्छी कमाती यह है कि उसे देखकर मन में उपभोग करने की वासना न उत्पन्न हो। उसे

यदि किसी स्त्री के चित्र को देखकर मन में कामुक अनुराग उत्पन्न हुआ, किसी सुन्दर नृत्य को देखकर वहाँ विलास करने की इच्छा पैदा हुई तो समझ लो कि यह चित्र अच्छा नहीं है। क्योंकि चित्र को चित्रित करने समय जो भाव चित्रकार के मन में प्रवातरूप से काम करता रहता है वही भाव चित्र में प्रस्फुटित होता है और वही सामान्यतः देखने वालों के मन पर अविकार करता है। मत्तप में कहे तो जिस चित्र को देखकर मन में कुविचार उत्पन्न होते हैं, घुरे भाव उत्पन्न होते हैं, वह अधम है, उसे कला का नमूना नहीं कह सकते। चित्रकार अपनी कला के धल पर अच्छे और घुरे दोनों प्रकार के भाव समाज के हृदय में उपजा सकता है। पर समाज का हित-साधन वही समाज कर पाता है जो विवेक से काम लेकर समाज के लिये आवश्यक भावा की सृष्टि करता है और समाज को ऊर्ध्वगामी बनाता है। इसलिये कलातत्त्वज्ञान ने ऐसे ही चित्रकार की कला को कला माना है, दूसरे प्रकार की कला को वे केवल अधम कला ही नहीं कहते, बल्कि उसे कला के आसन पर ही नहीं बैठने देते। जिस प्रकार सदाचारी मनुष्य को ही हम मनुष्य मानते हैं और दुराचारी मनुष्य को, उसके मनुष्य रहते हुए भी, हम पशु मानते हैं, उसी तरह समाज को ऊपर चढ़ाने वाली कला ही सच्ची और एकमात्र कला है, समाज को अधःपतन का रास्ता दिखाने वाली कला को कला न कहना ही सार्थक है।

कला का सम्बन्ध भाव में है, सुन्दरता से नहीं। दूसरे शब्दों में यों कहें कि कला का सम्बन्ध रूप सुन्दरता से नहीं, भाव-सुन्दरता से है। रूप-सुन्दरता के पुजारी प्रकृति की प्रतिलिपि को

ही कला मानते हैं अर्थात् मृष्टि में जो वस्तु उन्हें जमी दिखाई देती है उसकी ज्यों की त्यों नकल कर देने, उमका हू नहू चित्र खड़ा कर देने की कुशलता को ही वे कला समझते हैं। इसलिये वे केवल प्राकृतिक दृश्यों के ही चित्र नहीं रचते, प्राकृत सत्तार में मिलने वाली मनुष्य की नानाविध अवस्थाओं के ही चित्र बना सारतम्य के नहीं रचते, बल्कि नम्र और अर्धनग्न स्त्री पुरुष व चित्र चित्रित करना भी अनुचित नहीं मानते। किसी भी माता या पति ने पूछा है कि क्यों हजरत, जन चाहे जहा और जिस अवस्था में हमें उपस्थित करने का गुस्ताखी आप क्यों कर रहे हैं? मेरी राय में अब यह समय आगया है कि समाज इस प्रवृत्ति पर अपना अंकुश रखे। चित्रकारों के लिये ऐकान्तिक जीवन व ही ऐसे अनेक दूसरे प्रसंग मिल सकते हैं, जिनके द्वारा वे अपनी कला का सदुपयोग कर सकते हैं।

यह तो हुई प्रकृति की प्रतिनिधि करने वाले चित्रों की बात। इनकी कला नाम से प्रचलित वस्तु को कलानुबन्धि यथार्थदर्शी कला कहते हैं। एक दूसरे प्रकार के कलामर्मज्ञ हैं। वे भाव सुन्दरता व उपामक हैं। वे कहते हैं रूप तो क्षणिक और गौण चीज है। भाव मुख्य वस्तु है। कुत्तरनी चीजों की नकल करने का नीति उड़ी बात है। हाथ और आँख को जरा अभ्यास हो जाय तो उस में। समझें बुद्धि, कल्पना, प्रतिमा के रत्न में काम नहा लिया जाता। भाव-सुन्दरता के लिये चित्रकार को अपनी नई ही सृष्टि रचनी पड़ती है। वह अपने हृदय के भाव निरोप का मूर्ति का व्यक्ति का रूप, देता है, जिसे देखते ही यह मालूम होता है कि यह कोई प्राकृत व्यक्ति नहीं मात्रात मरणा या

भक्ति की ही मूर्ति है। वह उस भावदर्शन के अनुरूप आदर्श अथवा को अपनी प्रतिभा के साम्राज्य से गोज खोज कर लाता है और एक आदर्श भाव-सृष्टि सही कर देता है। हमलिये ऐसे चित्रकार आदर्शदर्शा कला के अनुगामी माने जाते हैं। आदर्शदर्शा चित्रकार भावों को व्यक्ति का रूप देता है, यथार्थदर्शा चित्रकार प्राकृत ससार के व्यक्तियों का चित्र खींच कर उसमें भाव आरोपण करने का प्रयत्न करता है। आदर्शदर्शा चित्रकार का ध्यान हमेशा आदर्शदर्शन की ओर रहता है। यथार्थदर्शा कलाकार दुनिया की अच्छी घुंरी, भद्र-अमद्र, सब चीजें आपके सामने लाकर रख देता है। आदर्शदर्शा कलाकार खुद विनैकपूर्वक चुनाव कर के अच्छी चीज आपके सामने पेश करता है। यथार्थदर्शा कलाकार स्वयं विवेक का उपयोग करने का भगडे में नहीं पड़ता, चुनाव और पसंदगी का काम समाज पर छोड़ देता है। समाज का जो चाहे ऊपर चढ़े चाहे नीचे उतरे। वह तो अपने मन को जो चीज अच्छी लगी, आपके सामने पेश करके अलग हो गया।

कला की उत्पत्ति जीवन के मृदुल अंश से है। उसका जन्म रम में और परिणति आनन्द में है। जब जीवन में सजीवता और स्निग्धता होती है और इतनी होती है कि वह फूट कर बाहर निकलना चाहती है तब कला का उदय होना है। एक की सजीवता और स्निग्धता जिस प्रमाणशालिनी विधि या वाहन के द्वारा दूसरे में जागृत होती है उसे कला कहते हैं। इस तरह कला एक माध्यम हुई दो हृदयों को एकरस बनाने का

का, यह मधुर-मिलन किसी एक उद्देश्य

फला उर्मी का साग्न है। निमी के मन में एक अनूठा भाव जगा। उससे न रहा गया। उसने दूची उठाई और एक कागज पर लकीरें खींच कर उसे अभिव्यक्त कर दिया। एक मजीब छवि बन गई। यह चित्र खला हो गई। यदि उस भावने में वह गाने या नाचने लगना तो वह मञ्जीत-कला और नृत्य खला हो गई होती। यदि अभिनय करने लगता तो उसे नाट्य-कला कह देते। काव्य में जिसे चमत्कार कहते हैं वही कला है। काव्य में ध्वनि भी कला है। काव्य स्वयं भी एक कला है, क्योंकि वह भी हृदय के भिन्न भिन्न भावों की अभिव्यक्ति ही है। रस उसमें सजीवता और आनन्द ला देता है। भाव जितना ही निर्दोष होगा, उच्च होगा, आनन्द और तन्मयता उतनी ही मात्त्विक होगी। हृदय उतना ही ऊँचा उठेगा और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करेगा। हमारा भिन्न भिन्न भाव, हमारे मानसिक व्यापार हमारे सारे पिण्ड के प्रतिनिधय हैं। हमारे पिण्ड में वैसे सम्कार सगृहीत हुए होंगे वेसी ही भावनाएँ हमारी होंगी। जेसी हमारी भावनाएँ होंगी वेसी ही हम दूसरों में प्रेरित और जागृत करेंगे अर्थात् जैसे हम होंगे वैसे ही हम दूसरा को बनाने में सफल होंगे। इसलिये कलाकार जैसा होगा वसी उसकी कलाकृति होगी और जेसी उसकी कृति होगी वेसा ही उसका परिणाम दूसरे पर होगा। कलाकार ने अपने अन्त करण के जिन तारों का छेडा है वही अपनी स्वर-लहरी द्वारा तत्तमदृश तारों को तारों के अन्त करण में स्वरित करेगा। निशुद्ध कलाकृति के लिये कलाकार का अन्त करण निर्दोष होना ही चाहिये। अन्त करण की मलिनता ने धोने के लिये, मलिन वासनाओं का मिटाने के लिए, सत्य

की आराधना जरूरी है। भौतिक पदार्थों की आराधना उसे अयोमुख करेगी और बुद्धताआ से रागद्वेष से ऊपर न उठने देगी। हर जगह से सत्य को ही ग्रहण करने की वृत्ति उसे सत्य से भिन्न और नीची वस्तुआ के लोभ से हटाने की चेष्टा करेगी और उस क्रिया में उसका हृदय शुद्ध होता जायगा। उसमें स्वार्थ भोग आदि के संस्कार नष्ट होत जायेंगे। क्योंकि ज्यों ज्यों वह सत्य की ओर आगे बढ़ेगा त्यों त्यों उसे उसमें इतना आनन्द, सुख और परोपकार देख पड़ेगा कि स्वार्थ, भोग आदि से उसका मन अपने आप हटता जायगा। इनकी साधना से मिलने वाला आनन्द या सुख विल्कुल क्षणिक, अमपूर्ण और परिणाम में पश्चात्तोषात्मक मालूम होने लगेगा। इस तरह कलाकार जितना ही सत्य पृथ होना, उतनी ही उसकी कृति पवित्र और उज्ज्वल होगी। कला कलाकार की सृष्टि है। वह अपने जीवन के सारे सत्त्व को कलाकृति के रूप में जगत् की भेंट करता है। उसकी कृति में जितनी ही सत्य की झलक होगी उतनी ही उसकी कला सृष्टि दिव्य और अमर होगी—उतनी ही वह जगत् को स्फूर्ति, जीवन, चैतन्य, आनन्द, सुख देगी।

ससार का परम सत्य यह है कि विश्व के अणु-रेणु में एक ही चैतन्य, एक ही प्रकाश, एक ही तेज, एक ही सत्ता निगरी और निगरी हुई है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व उस के बिना सम्भव नहीं है। हम ने इस सत्य को जाना तो, किन्तु इसका अनुभव कैसे हो ? हमारे जीवन में इसकी प्रतीति हमें कैसे हो ? हम अपने अन्दर उस चैतन्य को प्रत्यक्ष कैसे देखें ? हम और वह आज पृथक् हैं, एक-दूसरे में मिल कैसे ?



उपाय यह है कि हमारे हृदय का प्रत्येक भाग, हमारे मस्तिष्क का प्रत्येक विचार, हमारे दिल की हर एक बड़कन, हमारे फेफड़े की हर एक साँस, हमारा एक-एक रोम इस मूर्ति से भर जाय कि सारे ब्रह्माण्ड में मैं फैला हुआ हूँ। सारी सृष्टि मेरे अन्दर है। जगत् का सुख दुःख मेरा सुख दुःख है। जगत् में नहीं कण्टक है तो ऐसा अनुभव हो कि यह कण्ट मुझे हो रहा है। मसतार में कहीं आनन्द देखू, किसी को सुखी देखू, तो स्वयं कण्ट में रहत हुए भी उस आनन्द में नाचने लगूँ। मेरा शत्रु या हिंस्र पशु सामने आजाय तो मुझे उसमें अपनी ही आत्मा की ग्योति दिखाई दे। जब कलाकार इस स्थिति को पहुँच जाता है—अपने आप में इतना तल्लीन हो जाता है—या यों कहें कि अपने आप का भूल जाता है, सत्य की स्मरण ही अवशिष्ट रह जाती है, तब वह जो सृष्टि-रचना करता है, उसे कला कहते हैं। वह सत्य की कलक होती है। शान्ति, करुणा, प्रेम, उन्नतता वीरता शोक, चत्साह, साहस, चिन्ता किसी भी भाव की अभिव्यक्ति हो, होगी सत्य की प्रेरणा का फल। वह भाव मूल में सत्य से आगम्य हुआ है, फिर शान्ति, वीरता, चिन्ता या किसी भी भाव में उसका विकास हुआ है, इस विकास की अभिव्यक्ति कला है। इसका परिणाम दशक के मन में उमी भाव की जागृति होगा। यह जागृति उसे उन मूल सत्य की ओर जाने की प्रेरणा करेगी जहाँ से कलाकार के मन में वह भाव स्फुरित हुआ है। इस प्रकार कला आदि में सत्यमूलक और अन्न में सत्याभिमुख है, सत्य में वह भाव विशेष का रूप ग्रहण कर लेता है। या यों कहें कि एक सत्याश ने दूसरे सत्याश को जगाने वाले भाव विशेष की अभि

व्यक्ति का नाम कला है। इस तरह कला एक कृति है, साधन है, अभिव्यक्ति है, साध्य नहीं है। उसका परिणाम है भावोन्मत्तता और साध्य है सत्य का साक्षात्कार—सत्य का दर्शन।

व्यावहारिक भाषा में कला का अर्थ है—कुशलता कला का अर्थ विद्या, हुनर भी है। इस अर्थ में कला एक मानसिक गुण हुई। और यह हर एक व्यावहारिक मनुष्य के अन्दर परम आवश्यक है। पर कला से अभिप्राय यहाँ उस कृति से है जो हमारे हृदय को जगा देती है, बार बार उसे गति देती रहती है, वस इसके आगे उसका काम खतम हो जाता है। कलाकार आपका हाथ पकड़ कर—आप का साथी या नेता बनकर, आपको सहायता नहीं करता, वह तो एक ऐसा दृश्य दिगा देता है जिससे आपके अज्ञात करण में एक हलकी-मीठी गुदगुदी-उत्पन्न होती है और आपको आत्मा जागृत होने लगती है। मृदुलता कला का जीवन है। समवेदना उसकी जननी है। किसी कल्पना या नुरय से कलाकार के हृदय को चोट पहुँचती है, जोम होता है या आनन्द होता है। उससे उसके अन्तःकरण के स्फोट सुलत हैं, वहाँ से एक रस की धारा फूटती है। समवेदना उसमें मृदुलता की दूसरी धारा छोड़ती है। दोनों मिलकर किसी उपकरण के द्वारा कोई स्थूल रूप ग्रहण करती हैं—उसे हम कला कहते हैं। अतएव कला का कार्य केवल दूसरे चित्रों की नकल, या मानव-मूर्तियों का चित्रण, अथवा सृष्टि के विविध दृश्यों का दर्शन नहीं है, बल्कि भावदर्शन के द्वारा भावोद्बोधन है। कलाकार मानव-मूर्तियों में भाव का प्रवेश नहीं करता, बल्कि भावों की मानव मूर्तियों को पार्थिव दृश्यों में उपस्थित करता है। जिन दृश्यों को

मनुष्य प्रायः अपने जीवन में तैरता है उनकी प्रतिष्ठति उसका कार्य नहीं है, बल्कि एक नई सृष्टि रचना उसका कार्य है उसे एक दूसरा विधाता ही समझिए। वह हमारे विधाता की रची सृष्टि की नकल नहीं करता, बल्कि उसमें सुधार करता है उससे अधिक परिष्कृत, सुन्दर, कोमल, मनोहर और दिव्य सृष्टि रचना चाहता है। वह एक आदर्श को मानती हाथ पाय आदि अंग जोड़ कर हमारे सामने रखता है। इस अंग-रचना में वह अपने को स्वतन्त्र समझता है। वह यदि यह समझता है कि अंगुलिया लम्बी बनाने से चित्र की सुन्दरता बढेगी तो फिर इस बात का विचार नहीं करता कि महादेव ने तो इतनी लम्बी अंगुलियों मनुष्य की नहीं बनाई हैं, मैं कैसे बनाने का साहस करूँ ? इस अर्थ में कलाकार मौलिक, साहसी और स्वतन्त्र होता है।

कला को उन्नत पूर्ति का साधन हरगिज न बनाना चाहिये। पेट जब तक मनुष्य के साथ लगा हुआ है तब तक उसकी पूर्ति अनिवार्य है, परन्तु उसका लिये जीवन के प्रधान और महान उद्देश्य को बिगाड़ा नहीं जा सकता। जा महान और सब उद्देश्य के लिये जीते हैं उन्हें न तो पेट की चिन्ता होती है और न उन्हें वास्तव में भूखा-मरना ही पड़ता है, यदि मरना भी पड़े तो उसमें भी वे अधिक आनन्दित रहते हैं और चमकते हैं। उदर-पूर्ति का भाव प्रधान हुआ नहीं और कला भ्रष्ट हुई नही क्योंकि कला फिर कलाकार की आत्मा की ज्योति नहीं रह जाती, अन्नदाता या वनदाता की मृत्ति की दासों बन गई। कला आत्मा की स्वतन्त्र ज्योति और कहा दूसरे की मृत्ति की गुलामी ? इतिना स्पष्ट पतन। पेट की चिन्ता पुरस्कार की इच्छा नहीं कलाकार को

हो सकती है जिन्होंने किसी उच्च या महान् उद्देश्य के अनुवर्ती होकर कला जीवन नहीं आरम्भ किया है। यह कला-मर्मज्ञ और कला रमिक लोगों का कर्त्तव्य है कि वे कलाकारों को जीविका का उचित प्रबन्ध कर दिया करें। जय तब समाज या कला रसज्ञ अपने कर्त्तव्य के प्रति जागृत नहीं हैं तब तक कलाकार के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो अपनी कला का दाम लगाकर स्वयं धनोपार्जन करे, या कष्ट पाकर समाज को अपने कर्त्तव्य का भान कराने। पहले प्रकार का कलाकार समाज को कुछ कला कृतियाँ तो देगा, उनसे समाज का मनोरञ्जन विशेषरूप से होगा, परन्तु समाज में जागृति कम होगा और उसे बोध उससे भी कम मिलेगा। इसके विपरीत जो कलाकार धनाभाव में कष्ट सहन करेगा वह समाज में एक जागृति उत्पन्न करेगा, और उस कष्ट की भावनाओं से प्रेरित होकर जो कलाकृतियाँ निर्माण करेगा उनमें अद्भुत प्रभाव बल और जीवन होगा, जिससे समाज का अमित लाभ होगा। आसानी से धनोपार्जन करके हम केवल अपने कुटुम्ब का भरण पोषण निश्चिन्तता के साथ कर सकते हैं, किन्तु धनाभाव से कष्ट उठा कर हम सारे समाज की आत्मा को जगाने का पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। जो वस्तु हमारे लिये आवश्यक है उसके न मिलने से शरीर या मन को जो क्लेश होता है उसे सहना, उसे कष्ट न समझना, बल्कि इससे भी आगे — आनन्द मानना, कष्ट सहन है। इसके द्वारा हम सत्याग्रह, श्रेणियों का ध्यान आदि आवश्यक है कि वे उस वस्तु इस बात की स्मरण पड़ें

सोचने लगेंगे कि अमुक आदमी ऐसा क्या कर रहा है ? उसके बाद ही वे य सोचेंगे कि इस विषय में हमारा क्या कृतव्य है ? इसका पश्चात् वे उसके साधन की पूर्ति करने की चेष्टा करेंगे । जगानी या लिखित भाग क द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है किन्तु दोनों में प्रभाव और फल में अन्तर है । जगानी और लिखित भाग उक्त यन्त्र की अनिवार्यता उनमें जोर के साथ नहीं जाहिर करती जितनी कि कष्ट-सहन द्वारा की गई भाग । फिर कष्ट-सहन से अपने में सन्तोष और समय का गुण बढ़ता है पर दूसरे में कृतव्य-जागृति का ।

इसने विवेचन से पाठक यह अच्छी तरह समझ चुके होंगे कि कला वही है जिसकी प्रेरणा आत्मा की सत्यता, स्वतन्त्रता और परिश्रम से मिली हो और कलाकार यह है जिसने जीविका के बाजार में बेचने के लिये कला को न सिरजा हो ।

—हरिभाऊ उपाध्याय



पैसा ही होता है। हम लोगों में पुराने जमाने में भाट, चाणू आदि अपनी अपनी कविता ही की थोड़ी-सी चीजों में बरता का मचर कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर रामचरित आदि ग्रन्थों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है, वह क्या है? यह अन्धरी कविता ही का प्रभाव है। पुराने जमाने में घीम के एन्नेम नगरवाले मेगारागलों से घेर भाव रहत थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफे लड़ाई हुई। पर हर बार एन्नेमगलों ही की हार हुई। इस पर मोलन नाम के सिद्धान्त को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह पर चढ़ कर एन्नेमगलों को सुनाया। कविता का भाव यह था—

“मैं एन्नेम में न पैदा होता तो अच्छा था। किमी और देश में क्या न पैदा हुआ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था, जहाँ के निवासी मेरे भाइयों से अधिक धीरे अधिक कठोर हृदय और उनकी विद्या में त्रिलकुल नेतृत्व होते। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक सन्तुष्ट होता। यदि मैं किमी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आत्मी उसी एन्नेम का रहने वाला है, जहाँवाले मेगरा व निवासियों से लड़ाई में हार गए और मदान से भाग निकले। प्यारे देशान्धु! अपने शत्रुओं से जल्द हमका उद्वार लो। अपने इस कलक को शरीरन धो डालो। अपनी लज्जा जनक पराजय का अपयश दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओं के हाथ से अपना बिना हुआ देश न छुड़ा लो, तब तक एक मिनट भी घन से न घेठो।” लोगों के दिल पर

इस कविता का इतना अमर हुआ कि फौरन मेगराजाला पर चढ़ाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बसेड़ा हुआ था, उसे एथेन्सवालों ने लेकर ही चन लिया। इस चढ़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इंग्लैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस हिम्मती का दार दौरा था, वहाँ जोश पैदा कर दिया है। जहाँ शांति थी, वहाँ गद्ग मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है, क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम गटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण व खास खाम स्थलों का जितना प्रभाव रियों पर पड़ता है उतना पड़े लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोग का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था, उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृत बातों का वर्णन कवि करते हैं, उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नये कवि होते हैं, वे भी उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं।  
से अब क  
दि... होती है।



वेसा ही होता है। हम लोगों में पुराने जमाने में भाट, चारण आदि अपनी अपनी कविता ही की प्रशंसा जोरा में बारता का मंचार कर देते थे। पुराणादि में काव्यिक प्रसंगों का वर्णन सुनते और उत्तर रामचरित आदि दृश्यकाव्य का अभिनय देखते में जो अनुपात होने लगता है, वह क्या है ? उ० अर्द्धा कविता ही का प्रभाव है। पुराने जमाने में प्रीति के एथेन्स नगरपाले मेगराशाल में जर भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफे लड़ाई हुई। पर हर बार एथेन्सवालों ही की हार हुई। इस पर मोल नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी उसमें उसने एक ऊँची जगह पर बंद कर एथेन्सवालों का सुनाया। कविता का भाव यह था—

“मैं एथेन्स में न पैदा होता तो अच्छा था। किसी और देश में क्यों न पैदा हुआ ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था, जहाँ के निवासी मेरे भाइया में अधिक धीरे, अधिक बठोर हों और उनकी विद्या में तिलमूल रेखर होते। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक सन्तुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है, जहाँवाले मेगरा के निवासियों से लड़ाई में हार गए और मैदान से भाग निकले। प्यारे देशबन्धु ! अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलक को फोरन धो डालो। अपनी लज्जा जनक पराजय का अपयश दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओं का हाथ से अपना दिना हुआ देश न छुड़ा लो तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।” लोगों का दिल पर

इस कविता का इतना श्रम हुआ कि कौरव मेगराजालो पर चढ़ाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बख्शेडा हुआ था, उसे एथेन्सवालो ने लेकर ही चैन लिया। उस चढ़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इंग्लैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्त हिम्मती का दौर गौरा था, वहाँ जोश पैदा कर दिया है। जहाँ शांति थी, वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परन्तु निरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है, क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्ध-सभ्य लोगों का यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास खास स्थलों का जितना प्रभाव रियों पर पड़ता है उतना पढ़े लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था, उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का काम चाली है। जिन प्राकृत बातों का वर्णन कवि करते हैं, उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नये कवि होते हैं, वे भी उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

ससार में जो बात जमी न्यैय पड़े कवि को उसे बेसी ही वर्णन करना चाहिए। उसने लिए किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दर्या में कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही पैदा होने हैं उन्हें जब वह गिर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका अमर लोगों पर पूरा पूरा पड़ता है। घनाबट से कविता गिराड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति विशेष के गुण-गोषा को घेर कर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों, उन्हें यदि वह बेरोकटोक कर दे, तो उसकी कविता हृदयद्रावर हुए बिना न रहे। परन्तु परमजता, पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी कारण से सच बात कहने में किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साम्म नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दृष्टि में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतण्डुल प्रभावहीन हो जाती है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों में, कटु होने के कारण सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उन्मत्तता का प्रभाव हीन हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होती चाहिए, अथवा जिस विषय में रोक हो, उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सर्दी आदि ही के वर्णन से उसे मनोप कम्ना उचित है।

खशामत के जमाने में कविता की घुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या वांछाहों के आश्रय में रहते हैं अथवा उनके मुँह करने में इरादे से कविता करते हैं उनको

गुलामद करती पढ़ती है। वे अपने आग्रय शताश्र की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उम्मितियाँ असलियत से बहुत दूर जा पड़ती हैं। इसमें कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति में, यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है आकाश-गुमुमा के गुलदन्ते तैयार करना नहीं। अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है, परन्तु अभावाक्तियों भी क्या कोई अलंकार है ? किसी कवि की ये मिर पर की बातें सुन कर किस समझदार आत्मी को आनंद प्राप्त हो सकता है ? जिस समाज के लोग अपनी भूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं, वह समाज कभी प्रशस्तनीय नहीं समझा जाता। कानुल के अमीर दधीमुल्ला खाँ ने अपनी कविता-बद्ध निराधार प्रशंसा सुनने से, अभी कुछ ही दिन हुए, इन्कार कर दिया था। गुलामद आदमी कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते।

फारण-वश अमीरों की भूठी प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कनि-भमुदाय के आमरण लगे रहने से कविता की सीमा कट-छेँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह रहे कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, किसी सुहृद, आशिक माशूक के रंगीन रहस्या से आप तब तक रँगी हुई पाइएगा। इस्क भी यदि सच्चा असलियत आ सकती है।

कह सकता है कि आशिकाना शेर रहने वालों का मारा रोना, कराहना, ठंडी साँस लेना, जीते जी अपनी कर्माँ पर चिरां जलाना मत्र सच है ? सत्र न मही, उनके प्रलापो का क्या थाड सा भी थग सच है ? फिर इस तरह की कविता मैकडों रुप से होती आ रही है । अनेक कवि हा चुक, जिन्होंने इस रिपर पर न मालूम क्या क्या लिख टाला है । इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं ? वही तुक, वही छन्द वही शब्द, वही उपमा, वही रूपर । इस पर भी लोग पुरान लकीर को घरावर पीटते जाते हैं । कवित्त, सर्वय, धातुरी, दोहे सोरठे, लिखने से धाज नहीं आते । नय शिख नायिकामे अलङ्कार शास्त्र पर पुस्तकें पर पुस्तकें लिखते चल जाते हैं, अपनी व्यथ जनायदी जातों मे देरी देवतायो तक को धननाम करने से नहीं सजुचते । इसका फल यही हुआ कि कविता की अमलियत काफूर हो गई है । उसे सुन कर सुनने वाले के चित्त पर कुछ भी अमर नहीं होता । उलटे कर्माँ कमी मन मे घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है ।

कविता क बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है । वह बरबाद हो जाता है । भाषा म दोष आ जाता है । जय कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है, तब उसका असर सारे ग्रयसार पर पड़ता है । यही क्या, सर्व साधारण की बोल चाल तक मे कविता के दोष आ जाते हैं । जिन शब्दों, जिन भाषों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं, उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं । भाषा और बोल-चाल के सम्बन्ध मे कवि ही प्रमाण माने जाते हैं ।

कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोल-चाल का बनाना या निगाडना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटे अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नई तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है, तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो “छत्रोद्दिवाकर” में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे वे अब तक कविता कहते आये हैं, वही उनकी समझ में कविता है, और सब कोरी काँव काँव। इसी तरह की नुफ्ताचीनी से तग आकर अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—“कविते ! यह घेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ टिंचना तो दूर रहा, उलटे सब फहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुम पर मैं घमण्ड करता हूँ। याँ रख तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं, वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद चूर्ण हो जाता है।”

गोल्डस्मिथ ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है पर हमने उमक कथन का सारांश बहुत ही थोड़े शब्दों में दिया है। इससे प्रस्ट है कि नई कविता प्रणाली पर भ्रुष्टी डेढ़ी करनेवाले कवि प्रकाशों क कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर उधर होना उचित नहीं। नई बातों से घबराता और उतरे पक्षपातियों को निन्दा करना अनुपपन्न का स्वभाव ही मा हो गया है। अतएव नई भाषा और नई कविता पर यदि कोई नुस्तार्कीनी करे तो आश्चर्य नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्ता है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में बड़ी भेद है जो अंगरेजी की पोब्लि (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी प्रभावोपात्क और मनोरंजन लेख, घान या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। संस्कृत का प्रायः सारा पद्य समूह बिना तुकबन्दी का है, और संस्कृत से उठ कर कविता शायद ही किसी और भाषा में हो। अंग्रेजों में भी सैरों अच्छे अच्छे कवि हो गए हैं। वहाँ भी शुरू शुरू में तुकबन्दी का मिलकुल ख्याल न था। अंगरेजों में भी अनुप्रासहीन और नेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात जरूर है। इस घना और काफ़िये से कविता अधिक चित्तारुपक हो जाती है। पर कविता के लिए ये बातें ऐसी ही हैं जैसे शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभा

वोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए काफ़िये वगैरे की जरूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उगटे हानिकार हैं। तुल्य हुए शब्दों में कविता करने और तुरु, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कविया के विचार-स्वातंत्र्य में उड़ी गंगा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की घेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफ़िया और वजन उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट होने देते। काफ़िये और वजन को पहले ढूँढ़ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। इससे कवि अपने भाव स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट कर सकता। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है। कभी कभी तो वह तिलकुल ही जाता रहता है। अब आप ही कहिए कि जो वजन या काफ़िया कविता के लक्षण का कोई अंश नहीं, उसे ही प्रधानता देना भारी भूल है या नहीं।

जो बात एक असाधारण और निराले ढङ्ग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े उसी का नाम कविता है। आज कल हिन्दी में जो सज्जन पद्य-रचना करते हैं और उसे कविता समझ कर छपाने ढूँढ़ते हैं, उनको यह बात जरूर याद रखनी चाहिए इन पद्य






रचयिताआ म कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पन्नों को कालिगाम, होमर और वाइरन की कविता में भी बड़ा कर समझते हैं। यदि कोई सम्पादक उन्हें प्रकाशित करने से इनकार करता है तो वे अपना अपमान समझते हैं और बेचारे संपादक के खिलाफ नाट्य, प्रहसन और व्यंग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जनन मिटाते हैं। वे यह बात गिलकुल ही भूल जाते हैं कि यदि उनकी पद्य रचना अच्छी हो तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसे अपने पत्र या पुस्तक में महर्ष और मध्व्यवाद न प्रकाशित करेगा ?

कवि का सघस उदा गुण नई गई बातों का सूचना है। उसके लिए कल्पना (Imagination) की थड़ी जरूरत है जिससे जितनी ही अधिक शक्ति होगी, वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नय नय भाषा की उपज जिसके हृदय में नहीं, वह कभी अच्छी कविता नहीं लिख सकती। ये बात प्रतिभा की घड़ीलत होती है। इसीलिए महत्त्व-धालो ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। अभ्यास में यह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति का कवि भी के पेट में लेकर पैदा होता है। इसकी घड़ीलत यह भूत और मयिप्यत् को हस्तामलकन देखा है, वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की छुपा से वह सासारिक बातों को अजीब निराले ढंग में बयान करता है जिसे सुनकर सुननेवाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी बहुत अद्भुत बातें कह देते हैं। जो कवि नहीं हैं, उनकी पहुँच वहाँ तक हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति विकास को खूब ध्यान से

देये। प्रकृति की लीला का कोई छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेल करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब अजीब कौशल दिखाती है। वे माधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ ही नहीं सकते। पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अन्वही तरह देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है, और अपनी कविता के द्वारा समाज को लाभ भी पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति पर्यालोचन के सिवा कवि को मानव-समाज की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक-सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विचार-तरंगों चमके मन में उठा ही करती हैं। इन विचारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना मनुष्य का काम नहीं। केवल कवि ही इसका अनुभव करने और कविता द्वारा औरों को इसका अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ, उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से जाता है—  
 वह   होने लगता है कि वह  है। जिस कवि को

बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं, वह कल्पि अन्धा कवि नहीं हो सकता।

हाली के मुकदमे को पढ़कर, जिसके आधार पर यह निबन्ध लिखा गया है, हमारे एक मित्र महाशय ने अलंकार शास्त्र के कुछ आचार्यों की राय लिखी है, और सचेष्टता यह लिखलाग है कि हमारे आलंकारिकों ने कविता के लिए दिन दिन बातों की जरूरत समझी है। आपको कथन का आशय हम नीचे देते हैं। पाठक देखेंगे कि हाली की राय सस्कृत साहित्य के आचार्यों से बहुत कुछ मिलती है, सुनिष्ट—

नेसर्गिनी च प्रतिमा श्रुतञ्च यत् निर्मलम् ।

अमन्दभ्रामियोगेऽस्या कारणं काव्यमम्पद ॥

( आचार्य दण्डी—काव्यादर्श )

अर्थान् स्थाभाविकी प्रतिमा-शक्ति ( १ ) शास्त्र शास्त्रादि और ( २ ) लोकाचारादि का विशुद्ध ज्ञान तथा ( ३ ) प्रगाढ़ अभ्यास यह मन्त्र मिलकर काव्यरूपी सम्पत्ति का कारण है। “श्रुत” शास्त्र के अर्थ परिद्धत जीवानन्द विद्यासागर ने ये किये हैं—“श्रुत शास्त्र ज्ञान लोकाचारादि ज्ञानञ्च ।” पञ्च-सृष्टि-कार्य और मानव-स्वभाव इन दोनों के ज्ञान का बोधक लोकाचारादि ज्ञान है। उस का उल्लेख हाली ने अपनी दूसरी और तीसरी शर्त “सृष्टि-कार्य-पर्यालोचना” और “शब्द विन्यास चातुर्य” में किया है। प्रगाढ़ अभ्यास की आवश्यकता हाली ने “आमद और आवुत्” में की है। इस विषय पर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

इसी अभिप्राय का एक श्लोक यह भी है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकार्यार्थप्रेक्षणान् ।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

अर्थात् प्रतिभाशक्ति, वाक्यादि शास्त्र तथा लोकाचारादि के अवलोकन से प्राप्त हुई निपुणता और काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास, ये तीनों बातें कविता के उद्भव में हेतु हैं। कई आचार्यों ने प्रतिभा को ही काव्य का कारण मान कर व्युत्पत्ति को उसकी सुदृढता और अभ्यास को वृद्धि का हेतु माना है यथा—

कवित्वं जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासयागतम् ।

तस्य चास्त्वनिष्पत्तो व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी ॥

इस मत की पुष्टि भी हाली के उस लेख से होती है जो उन्होंने सब से पहली शत 'तरय्युल' (प्रतिभा) में लिखा है।

इन्हीं सब बातों को हाली ने अपने मुकदमे में, ३७ मे ५४ पृष्ठ तक, उदाहरणदिकों से पल्लवित किया है।

सृष्टि-कार्य-निरीक्षण की आनन्दकता कवि को क्यों है? इस बात को हाली ने "मसनगी" पर बहस करते हुए, एक उदाहरण द्वारा, समझाया है। वे लिखते हैं—

इसी प्रकार किसी में ऐसी छोटी छोटी ग्रामगिक बातों का वयान करना, जिन्हें तजरबा और मुशाहिदा मुठलाते हों कदापि उचित नहीं। इससे आख्यायिकाकार का इतना बेसलीकापन साबित नहीं होता, जितनी उसकी अज्ञता और लाक वृत्तात से अनभिज्ञता या जरूरी अनुभव प्राप्त करने से बेपरवाही साबित होती है। जैसा कि "बदरे मुनीर" में एक रास मौके और वक्त का समो

इस तरह बयान किया गया है—

वो गाने का आलम वो हुस्ने चुतों ।

वो गुलशन की सूनी वो दिन का मर्मों ॥

दररता की कुड़ छाँय और कुड़ वो धूप ।

वो धानो की सन्नी वो सरसो का रूप ॥

आखिरी मिसरे से यह सारा प्रतीत होता है कि एक तरफ धान रखे थे और एक तरफ सरसों फूल रखी थीं । मगर यह धान वारु के जिलाक है, क्योंकि धान रारीक में होते हैं और सरसों रानी में रोहूँ के साथ बोई जाती हैं ।

कवि-शुल्ल गुरु कालिदास के विश्व विख्यात राज्य, तथा कविन्द विहारीलाल की सतसई से, इसी रिषय का एक एक प्रत्युदाहरण मुनिए ।

दञ्जुच्छायनिपादिन्यन्तस्य गोप्तुगुणोदयम् ।

आनुमारक्योदघातशान्तिगोप्या जगुर्गशा ॥—रघुवशा ।

रघु की दिग्विजयार्थ यात्रा के उपोद्घात में शरदूत्सव का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ईरा की छाया में बंठी हुई धान रताने वाली स्त्रियाँ रघु का वशा गाती थीं । शरत्काल में जब धान के रोते पकते हैं, तब ईरा इतनी बड़ी हो जाती है कि उसकी छाया में बैठ कर धान रखा सके । ईरा और धान के रोते भी प्रायः पास ही पास हुआ करते हैं । कवि को ये सब बातें विदित थी । श्लोक में इस दशा का, इस वास्तविक घटना का चित्र सा खींच दिया गया है । श्लोक पढ़ते ही वह समों आँखों में फिरने लगता है ।

महागजाधिराज विजयमदित्य के सम्राट, राजसी ठाठ से रहने वाले कालिदास ने, गरीब किसानों की, नगर से दूर, जङ्गल से

मन्त्रव रखनेवाली एक वास्तविक घटना का वैसा मनोहर चित्र उतारा है। यह उसके प्रकृति पर्यालोचक होने का दृढ़ प्रमाण है। दूसरा प्रत्युदाहरण -

सन मूर्यौ प्रेत्यौ प्रनौ ऊर्यौ लई उर्यारि ।  
हरी हरी अरह्य अजौ धर धरह्य हिय नारि ॥

— सतसई ।

परले मन सूयता है, फिर धन-बाढ़ी या कपास के रेत की पहार उत्पन्न होती है। पुन ईश्व के उग्र होने की गरी आती है, और इन मन से पोछे गेहूँ के समय तक अग्रहर हरी भरी गढ़ी रहती है।

ये मन धाते कवि ने कैसे सुन्दर और सरल ढंग से क्रमपूर्वक इस दोहे में ध्यान की है। इसमें अनुप्रास की छटा आदि अन्य प्राज्य-गुणों पर ध्यान दिलाने का यह अग्रसर नहीं। यहाँ तक पूर्वोक्त महाशय की राय हुई।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्दस्थापना की भी पड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में हूँ हूँ कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुननेवाले की आँखों पर मानने वर्य विषय का चित्र सा गींचे। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो। यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसलिए कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ और इस क्रम से रखने चाहिएँ, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कमर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्ति-संगत शब्द-स्थापना के विना

कवि की कविता तादृश हृदय-गारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अन्धरी शब्द स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफी शब्द समूह नहीं हैं, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जा सुमति है, उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिन शब्द में उनका भाव प्रकट करने में बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते। आज-कल के पद्य रचनाकर्त्ता महाराजों को इस बात का बहुत कम खयाल रहता है, इसी से उनकी कविता, यदि अच्छे भाव से भरी हुई भी हो, तो भी बहुत कम अमर पदा करती है। जो कवि प्रति पंक्ति में निरर्थक 'सु' 'जु' और 'र' का प्रयोग करता है, वह माने इस बात का खुद ही सार्टीफिकेट दे रहा है कि मेरे अधिष्ठित शब्द कोश में शब्दों की कमी है। ऐसे कवियों की कविता कदापि सर्व-प्रिय और प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिटन ने कविता के तीन गुण बयान किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो और असलियत से गिरी हुई न हो।

सादगी में यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही साफ हो, बल्कि विचार परम्परा भी साफ हो। भाषा और विचार ऐसे मृदुल और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब ही समझ में न आवे, या देर में समझ में आवे। यदि कविता में काइ ध्वन हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझ में गहर विचार की जरूरत हो। कविता पढ़ने या सुननेवाले का एसी साफ सुवरा सबक मिलनी चाहिए जिस पर कढ़ा, पत्थर, टीले,

सन्दक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह गूँव साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलनेवाला आराम से चला जाए। जिस तरह सड़क जरा भी ऊँची नीची होने से वाइसिकिल (पर गाड़ी) के सवार को धक्के लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी भी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपों सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी की नदी-नाल बहते हैं, दोनों तरफ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों को नई नई झाड़ियाँ आराम को लुभाती हों। दुनियाँ में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं, उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी कद नहों हुई। यदि कभी किसी की कुछ कद हुई भी है तो थोड़े ही दिनों तक। ऐसे कवि त्रिस्मृति की अन्वकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखा शब्द ऋकार ही जिन कवियों की करामात है, उन्हें चाहिए कि वे एक दम ही बोलना बन्द कर दें। भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सांगी कम हो जाती है। बोल-चाल से मतलब उस भाषा से है जिसे रास और आम सब बोलते हैं और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी

मुहावरे का ख्याल रखना चाहिए।



मुहावरों से सम्मान हो, उर्मी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। ये यदि गति-पालक हैं तो उनका प्रयोग सन्तोष नहीं माना जा सकता। उन्हें न्याय नहीं समझना चाहिए। कोई कोई ऐम शब्दों को उनके मूल रूप में लिखते ही सही समझते हैं। पर यह ठीक नहीं है। जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा में आ जाता है, तब वह उर्मी भाषा में हो जाता है। अतएव उसे उमड़ी मूल भाषा के रूप में लिखते आते भाषा विद्वान् के नियमों के विचारक हैं। मुदा 'मुहावरों' शब्द को ही देखिए। जब उसे अनेक लोग हिन्दी में 'मुहावरों' लिखने और बोलने लगे, तब उसका असल रूप जाता रहा। वह हिन्दी का शब्द हो गया। यदि अन्य भाषाओं के बहुत प्रयुक्त शब्दों का मूल रूप ही शुद्ध माना जायगा तो पर, घड़ा, हाथ पाँव नाक, वान, गन्, सुमलमान, सुरान, मैगजीन, पडमिरल, लालटेन आदि शब्दों को भी उनके पूर्ण रूप में ले जाना पड़ेगा। एशियाटिक सोसाइटी के जनररी १९०७ के अर्न्तर्गत मध्य और अंगरेजी आदि युरोपियन भाषाओं के १०८ शब्द ऐसे लिये गये हैं जो फारसी के फारसी अक्षरों में प्रयुक्त होते हैं। इनमें से कितने ही शब्दों का रूपान्तर हो गया है। अब यदि इस तरह के शब्द अपने मूल रूप में लिखे जायेंगे तो भाषा में नेतरह गड़बड़ पैदा हो जायगी।

असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का खयाल रखा जाय। यह नहीं कि सचाई की कमौटी पर कमने पर यदि कुछ भी कमर मान्म हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत

से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता ने-चुनियाट न हो। उसमें जो उक्ति हो, वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह भी उसे सचमुच ही मच समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उलटा हो क्यों न समझते हों। परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविक अर्थात् 'नेचुरल' (Natural) उन्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है, असल बात को एक नए सॉंचे में ढाल कर कुछ दूर तक धर उधर भी उड़ान कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुधान करना चाहिए। जिस बात पे कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे ओर जिस ढंग से शब्द-प्रयोग करते हैं, वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई ऐसी बात न रहनी चाहिए जो दुनियाँ में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं, अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। हम इन बातों को उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट कर देते, पर लेख बढ़ जाने के डर से ऐसा नहीं करते।

जोश में यह मतलब है कि, कवि जो कुछ कहे, इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त

उसके मुह

निकल गया है। उनसे पनायत न आतिर हा। यह उ मात्तम हो कि कवि ने कोशिश करके ये जान फही है, किन्तु यह मात्तम हा कि उत्तम इत्यगत भावा ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उमे प्रियश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक हाता है। वष्य वस्तु को देख कर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से यह उस पर कविता करने के लिए प्रियश सा हा जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के तल से वह सजीव ही नहीं, निर्भीर चीजा तरु का घणन ऐसे प्रभावोत्पादक दृढ़ से करता है कि यदि उन चीजा में घोलने की शक्ति होती, तो मुद् वे भी उससे अच्छा घणन न कर सकती। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द गूँज जोरदार और जोशीले हो। सम्भव है, शब्द जारदार न हों, पर जोश उनमें झिपा हा। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी दूरी से तेज तलवार का काम लेना जानते हैं, वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता में हा तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इन में से एक या दो गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। कभी कभी सादगी और जाश पाय जात हैं, असलियत नहा। परन्तु बिना असलियत के जोश का हाना बहुत कठिन है। अतः कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

( ३ )

## भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा

भारतवर्ष जेसे विशाल राष्ट्र की सर्वोद्देश्य उन्नति होने के लिये भिन्न भिन्न गुण और स्वभाव वाली प्रान्तीय जातियाँ थी जितनी आवश्यकता है, उतनी ही भारतीय संस्कृति के सार्वदेशिक विकास के लिये भिन्न भिन्न भाषाओं की भी आवश्यकता है, किन्तु जेसे भिन्न भिन्न इन्द्रियों में सञ्चार करने वाला मन तो एक ही है, निम्नके द्वारा सम्पूर्ण शरीर में एकरूपता और एक-प्राण का सञ्चार होता है, वसी तरह आज हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रीयता की भावना जागृत तथा व्यक्त करने के लिये राष्ट्रीय भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह आवश्यकता आज ही उपलब्ध हुई हो सो नहीं, बहुत प्राचीन काल से हिन्दुस्तान में प्रयत्नपूर्वक राष्ट्रीय भाषा निर्माण करके उसे निवसित किया गया है। जब हिन्दू राष्ट्र तेजस्वी था, मुसलमान था सम्पूर्ण जगत् में श्रेष्ठ था उस समय भारतवर्ष के उत्तमोत्तम विचार, आर्यों के काव्य और तत्त्वज्ञान, आर्यों के पराक्रम के वर्णन और आर्यों की साम्प्रदायिक रोजें आदि सभी शुद्ध, उदात्त और मस्कृत भाषा में की जाती थी और इसीलिये उस भाषा को देववाणी का गौरवान्वित पद प्राप्त हुआ। जब भारतवर्ष की अवनति हुई, भारत की अभिनिधि विगड़ी, तब भी हीन विचार और अश्लील कल्पनाओं से मस्कृत भाषा को दूषित कर देना उस वक्त के लोगों ने ठीक न समझा, इसलिये उन्होंने प्राकृत भाषाओं का आश्रय लिया। मस्कृत

भाषा में आर्या को शोभित करने वाले शुद्ध विचार ही लिखे जायें थे। आगे चलकर यह स्थिति भी भ्रष्ट हुई, राष्ट्रीय-जीवन शीण हुआ और फिर कुछ भी नियम न रह गया। बीच में हिन्दुओं ने फिर से खड़े होने का प्रयत्न किया और उन समय भी उन्होंने श्रेष्ठ विचारों के लिए संस्कृत भाषा का हाँ देकर दिया, पर लोक-जागृति के लिए उस समय की प्रचलित भाषाओं को उपयोग में लाने का सारा दूसरा चारा नहीं था। अतः जहाँ तक हो सना संस्कृत वाङ्मय का प्रचलित भाषाओं में रूपान्तर कर दिया गया। आज राष्ट्रीय जीवन फिर से जाग के साथ फुलार भारने के लिए प्रयत्न कर रहा है। उसे प्रकट करने के लिए राष्ट्रीय-भाषा की भी आवश्यकता उत्पन्न हुई है। अतः सवाल खड़ा हुआ कि यह राष्ट्र भाषा कौन सी हो? यह एक अत्यन्त व्यावहारिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हुआ है। राष्ट्र की उत्थिति तो पूर्ण परम्परा का अनुसरण करके ही हो सकती है। यह महान् सिद्धान्त जिसे मान्य है उमके आगे यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि आज की राष्ट्र भाषा संस्कृत-परम्परा का अनुसरण करके ही होनी चाहिए।

पर आज भारत में केवल हिन्दू ही नहीं रहते। अद्वैतवादी, प्रेम धर्मी हिन्दुस्थान में इस्लाम और इस्लामी संस्कृति को हमेशा के लिए स्थान मिला है और इससे भारत की राष्ट्रीय संस्कृति को एक शिष्ट मार्ग प्राप्त हुआ है। यह मार्ग भी राष्ट्रीय-भाषा में व्यक्त होना चाहिए। यह प्रयत्न मुसलमानी राज्य के उत्कर्ष-काल में हुआ था। बड़े बड़े हिन्दू पण्डित अरबी और फारसी भाषा का अध्ययन करके उन भाषाओं में अप्रतिम काव्य लिखते थे और

बहुतेरे मुसलमान बादशाह सस्कृत-पण्डितों को आश्रय देकर और राज्य मस्कृत-साहित्य का अध्ययन करके हिन्दू-संस्कृति का रहस्य समझने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार धीरे धीरे भारतवर्ष की भाषा निर्माण हुई। हिन्दी और उर्दू उम भाषा के दो स्वरूप हैं। मुसलमानी राज्य में धार्मिक विरोध पूर्णता से नष्ट न हो सका, हिन्दू और मुसलमानों की रहन सहन एक न हो सकी और इसी कारण हिन्दी और उर्दू के बीच का भेद घना रहा। वर्तमान स्थिति में वह विरोध तेजी से घटता जा रहा है, इसलिए सम्भव है कि थोड़े से प्रयत्न से हिन्दी और उर्दू के बीच का भेद बहुत ही घट जाए। मुसलमानी सत्ता के बाद अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी संस्कृति का बहुत ही प्रबल प्रभाव हम पर पड़ा है, जिसके कारण भारत-वर्ष की सभी भाषाओं पर और जन-समुदाय की विचार-शैली पर अंग्रेजी पद्धति का प्रभाव पड़ा है। यह सर्वथा अनिष्ट है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी विचार-पद्धति और अंग्रेजी ढंग की वास्तव रचना केवल आधुनिक सुशिक्षित वर्ग की भाषा ही में दी जाती है। जन साधारण की भाषा को उसका स्पर्श नहीं हुआ। यह भी एक तरह से दृष्ट ही है।

अंग्रेजों ने भारत को अपना देश नहीं बनाया है। उन्हें तो यहाँ केवल राज्यकर्ता ही के समान रहना है। उन्हें हिन्द-पुत्र नहीं होना है। इसीलिए उनकी भाषा भी यहाँ कदापि बहमूल न होगी। जिस तरह हम पर अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है, किन्तु अंग्रेज लोग हमारे साथ नहीं रहते हैं, न हमारे साथ मिलते जुलते ही हैं उसी तरह अंग्रेजी साहित्य और उनकी विचार पद्धति का प्रभाव हम पर होते हुए भी अंग्रेजी भाषा का

भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा हाना या बने रहना सम्भवनीय नहीं। राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है।

किन्तु यह हुआ सामान्य सिद्धान्त, पर 'नर साँची करती करे, तो नर का नारायण होय' इस तत्त्व के अनुसार प्रयत्न करने पर कोई भी बात अशक्य नहीं। पाश्चात्य सस्कृति और आर्य सस्कृति—इन दोनों के बीच की विषमता देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता था कि भारतवर्ष में पाश्चात्य प्रजा का राज्य होगा, किन्तु हम आँखा देखते हैं कि आज वही सत्य हो गया। इसी तरह यदि हम सोच ही रहेंगे तो पुरुषार्थी अमेज्ज लोग कालान्तर में अमेज्जी को प्रजल भारत की राष्ट्रभाषा ही नहीं, किन्तु देश की भी एक भाषा कर सकेंगे। यह मान लेने के लिए बहुत से प्रजल कारण पाए जाते हैं कि उनकी मचमुच यह अभिलाषा है भी। आन तक उनकी शिक्षा-नाति इसी विश्व में अपना काम कर रही है और वह सफल भी हुई है। ऐसे आनन्दोद्गार हाल ही में बड़े लाट साहय के मुग्न से जानत या अनजाने निकल पड़े हैं। यह तो यह भी सुगन्ध-मधुर देख रहे हैं कि थोड़े ही दिनों में अमेज्जी हमारे घेरा में घुस जाएगी।

अब यह विचार करना चाहिए कि आर्या के वंशजों और आर्य-सस्कृति के अभिमानियों को ऐसा हाने देना इष्ट है या नहीं? हम स्वीकार करते हैं कि अमेज्जी राज्य से हमें कुछ लाभ पहुँचा है। इसी तरह अमेज्जी भाषा को उपयोगिता भी हमें मान्य है, परन्तु अपने धर्म के लिए, अपनी मस्कृति के लिए, अपने पूर्वजों के नाम के लिए और अपने वंशजों के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिए हम अपनी देशभाषा-मातृभाषा को छोड़ नहीं

सकते। हमारे राष्ट्र का प्राण—हमारी राष्ट्रीय-भाषा तो हिन्दू और मुसलमानों में आज सैकड़ों वर्षों से अभेद भाव रखने वाली हिन्दी-भाषा ही होनी चाहिए। अंग्रेजी भाषा को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठाना अपनी सस्कृति को तिलाञ्जलि देने के समान है। हमारे एक भारी विद्वान की राय है कि सुशिक्षितों की सामान्य भाषा अंग्रेजी हो और अशिक्षितों की सामान्य भाषा हिन्दी। वे एक प्रौढ़ विद्वान् हैं और उनका विरोध करने योग्य शक्ति मुझमें नहीं, तो भी मुझे इतना स्पष्ट चित्रित होता है कि यह बात साधारण रीति से अशक्य है—और वह अशक्य है, यह परमेश्वर की बड़ी ही कृपा ममम्हनी चाहिए। यदि सुशिक्षित और अशिक्षित की भाषाओं में इतना भेद हुआ तो राष्ट्र का प्राण गया ही समझिए। यूरोप में श्रीमान् और निर्धन ऐसे भेद समाज में पड़ जाने से दोनों विभक्त हो गए। अतएव वहाँ के समाज में कैसे भयङ्कर उत्पात होते हैं, डमका बर्णन हम लोग पढ़ते हैं। हमारे देश में सुशिक्षित और अशिक्षित के बीच में फूट होकर वह यहाँ तक पहुँच जाय कि हमारी—उनकी भाषा ही भिन्न हो जाए तो कितना भयङ्कर अनर्थ होगा। इसकी कल्पना मात्र से रोमाञ्च हो जाते हैं। जिस समय सुशिक्षितपन सस्कृत भाषा के आश्रय में रहा था, उस समय के सुशिक्षित विद्वान् समाज से भिन्न नहीं हो गए थे। वह अपनी सस्कृत को जन-समाज में अन्तिमान्तिम श्रेणी के मनुष्यों तक पहुँचा देते थे। अंग्रेजी द्वारा शिक्षा प्राप्त समाज आज ही प्रजा से निछुड़ा हुआ नजर आता है। फिर भाषा भेद हो — पर तो समाज का उच्छेद ही हो जायगा।

भारतवासी की भाषा है और इसीलिए



अपनी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए, ऐसा कहने वाला भी एक दल मुशिक्षितों में है। ऐसी राय यदि अशिक्षित-दल की होती तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मान्य होता, क्योंकि राजा तो राज्य का स्वामी है, उसकी इच्छा का अनुसार प्रजा को चलना चाहिए, यही उसकी भावना होती है, परन्तु शिक्षित दल तो जानता है कि राज्य प्रजा का हित का लिए है और राजा प्रजा-हित का सेवक है। मुशिक्षितों को तो उक्त यह करना चाहिए कि यदि राजा को अपने कर्तव्य का भली भाँति पालन करना है तो उसे प्रजा की सत्सृष्टि के माध्यमस्वरूप होकर प्रजा ही की भाषा में बोलना चाहिए, प्रजा ही की भाषा में विचार करने चाहिए और प्रजा ही की भाषा में उसे स्वप्न देखने चाहिए। गुर्जरराधिपति सयानीराव ने इसी तत्त्व को समझ कर राष्ट्रभाषा को राज्य-भाषा बनाया। यदि आज बड़ीदा में फिर से मगधी राज्य भाषा हो जाए तो इसे कौन अङ्गड़ा रहेगा? इसी न्याय से सारे भारत वर्ष में देशी भाषा ही राज्य-भाषा होनी चाहिए, इस राय की पुष्टि हम क्यों न करें?

देशी भाषाओं में से ही एक ही राज्य-भाषा होनी चाहिए, इतना सिद्ध होने पर हिंदी का विशेष पक्षपात करने की विशेष आवश्यकता रह ही नहीं जाती। शक्याशक्य का विचार तो केवल मुशिक्षित ही करते हैं। जन-समाज ने तो उस प्रश्न का निर्णय न जाने क्या से कर रक्खा है। एक बात अभीष्ट मालूम हो जाने पर उसकी शक्यता का विचार करते हुए बैठे रहना तो कायरता है। ऐसे विन्तवनों में कालयापन करना पौरुषहीन लोगों का काम है। सारे भारतवर्ष में ईमानदारी

से द्वारपाल की नोकरी करने वाला भी सिद्ध करता है कि हिन्दी सार्वत्रिक भाषा हो सकती है। भारतवर्ष के अनेक पन्थों के साधुओं ने भी इस प्रश्न का निर्णय किया है। साधु चाहे चट्टाली हो, चाहे मद्रासी, पर वह हिन्दा में ही ज़ीलेगा। यात्रा करने वालों का अनुभव देखने से भी हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा मालूम होती है। कैलाश से रामेश्वर तर ओर द्वारिका में कामाक्षी तक हिन्दी से भली-भाँति काम चल सकता है।

बहुतेरों का प्रश्न यह होता है कि यद्यपि भारतवर्ष में लोग अधिकांश हिन्दी जानते हैं, तो भी राष्ट्रभाषा के श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकने के योग्य प्रौढ़ वाङ्मय उसमें कहा है? पर यह कहना भ्रमात्मक होगा कि हिन्दी का वाङ्मय प्रौढ़ नहीं। प्राकृतिक वर्णन करने वाली कविता लीजिए, शृंगार, वीर, करुणा, भक्ति या और कोई दमरा रस लीजिए, उन सभी में नसार की किसी भी भाषा से हिन्दी पीछे नहीं पड़ सकती। जिस भाषा में तुलसीदासजी ने अपनी रामायण लिखी, जिस भाषा में फरीददास जी ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया, जिस भाषा में निचार सागर जैसे वेदान्त-ग्रन्थ रचे गये, जिस भाषा में सूरदास का कविता-सागर उमड़ रहा है और जिस भाषा में भूपण कवि ने गो ब्राह्मण-प्रतिपालक शिवाजी के प्रताप का वर्णन किया, उसका वाङ्मय प्रौढ़ नहीं, यह कौन कहेगा? आधुनिक शास्त्रीय अनुसन्धानों की पुस्तकें हिन्दी में न हों और इतिहास तथा राजनीति की भीमासा करने वाली पुस्तकें उसमें न हों, तो भी यह दोष उस भाषा का नहीं। हमारे मध्यकालीन जीवन का एकाङ्गीभाव ही इस स्थिति का उत्तरदायी है। हमारा जीवन

अपनी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए, ऐसा कहने वाला भी दल सुशिक्षितों में है। ऐसा गय यदि अशिक्षित-दल की होती तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता, क्योंकि राजा तो राज का स्वामी है, उसकी इच्छा के अनुसार प्रजा को चलना चाहिए, यही उनकी भावना होती है, परन्तु शिक्षित दल तो जानता है कि राज्य प्रजा के हित के लिए है और राजा प्रजा-हित का मेहनत है। सुशिक्षितों को तो उलटा यह करना चाहिए कि यदि राजा को अपने फर्तव्य का भली भाँति पालन करना है तो उसे प्रजा की सम्पत्ति के भाव एकरूप होकर प्रजा ही की भाषा में बोलना चाहिए, प्रजा ही की भाषा में विचार करने चाहिए और प्रजा ही की भाषा में उसे स्वप्न देखने चाहिए। गुर्जरविर्पा सयानाराव ने इसी तत्त्व को समझ कर राष्ट्रभाषा को राज भाषा बनाया। यदि आज उड़ीसा में फिर से मराठी राज्य-भाषा हो जाए तो हमें कौन अच्छा कहेगा ? इसी न्याय में मारे भारत वर्ष में देशी भाषा ही राज्य भाषा होनी चाहिए, इस राय की पुष्टि हम क्यों न करें ?

देशी भाषाओं में से ही एक राज-भाषा होनी चाहिए, इतना मित्र होने पर हिंदी का विशेष पक्षपात करने की विशेष आवश्यकता रह ही नहीं जाती। शक्याशक्य का विचार तो केवल सुशिक्षित ही करते हैं। जन समाज ने तो उस प्रश्न का निर्णय न जाने क्या से कर रक्खा है। एक बात अर्थात् मालूम हो जाने पर उसकी शक्यता का विचार करने हुए बैठे रहना तो फायरता है। ऐसे चिन्तकों में कालयापन करना पौरुष-हीन लोगों का काम है। मारे भारतवर्ष में ईमानदारी

भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा कौन सी होनी चाहिए, तो भी महाराष्ट्र के संस्थापकों ने महाराष्ट्र के लिए उसका निर्णय कर दिया है। शिवाजी ने हिन्दी नगरों में से भूषण कवि को बुला कर उन्हें अपना राज्य-रजि बनाया और उन्हें कन्याकुमारी से हिमालय तक भेज कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान दिया है। और इसी से सातगलेकर, दिपेकर सप्रे और भगादे पराङकर, तामसकर, साठे और गदें जैसे मराठी और हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। और यह बात कोई आजकल की नहीं। नामनें और तुकाराम आदि साधुओं ने भी हिन्दी में पद्य-रचना की है। दरजी जाति के महाराष्ट्रीय साधु रामदेव की हिन्दी कविता सिख लोगों के पवित्र धर्म-ग्रन्थों में सम्मिलित की गई है।

गुजरात की ओर से भीराधार्, अग्ना तयाराम और दलपत राम आदि ने भी हिन्दी को अपना कर चुकाया है। और प्रेमानन्द के पहले गुजरात में ग्रन्थों की रचना भाषा (ग्रज-भाषा) ही में हो, ऐसा माना जाता था। प्रेमानन्द के बाद गुजराती भाषा में काव्य-रचना होने लगी, तो भी हर एक प्राचीन कवि ने हिन्दी में भी लेखनी चलाई है।

यह सच तो हुई हिन्दी की सेवा। किन्तु चिरकाल से उपेक्षित और क्षीण हिन्दी को स्वाभिमान की अमृत-सजीवनी पिला कर उसमें नवजीवन का सञ्चार करा देने वाले धन्यन्तरि एक गुर्जर-पुत्र थे इस विचार में किम गुजराती को अभिमान उत्पन्न हुए बिना न रहेगा? स्वामी दयानन्द जी ने हिन्दी को 'आर्यभाषा' का गौरवपूर्ण नाम देकर पञ्जाब जैसे पिछड़े प्रान्त में भी उसकी प्रतिष्ठा की है।

व्यापक हुआ नहीं कि हिन्दी भाषा भी देखत ही उम दिशा की ओर वेग में बढ़ी नहीं। जिस भाषा ने साहित्य के एक विभाग में अपनी सामर्थ्य, अपनी क्षमता और अपना उत्कर्ष प्रकट किया है, वह भाषा अन्य विभागों में लगेगी रहेगी, यह संशय ही अयुक्त है।

आधुनिक साहित्य में हिन्दी कुछ पीछे है, तो भी एक तरह से वह पिछड़ना उसकी राष्ट्रभाषा होने की योग्यता को बढ़ाता है। उसे बङ्गाली, मराठी, और गुजराती आदि सभी प्रान्तों में लोग सुगमता से अपने अनुरूल बना कर मनुष्य राष्ट्रभाषा बना सकें, ऐसी स्थिति स्थापन है। आज वहाँ प्रयत्न चल रहा है। विद्वत्ता पूर्ण चित्तनी ही बंगला पुस्तकें हिन्दी में अनूदित हो रही हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ब्रह्मचन्द्र चट्टोपाध्याय, रामटप्प परमहंस, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि बंगाली विद्वान और साधु-गण हिन्दी वेष धारण कर हमारे साथ भाषण करने लगे हैं। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर और रामानन्द आदि हिन्दी में उपदेश करने लगे हैं। तिलक का 'गीता-रहस्य' महाराष्ट्र के साथ ही उत्तर भारतवर्ष को भी मिला है। सर देसाई के अनेक वपों के प्रयत्न का फल हिन्दी को एक ही अनुवाद में प्राप्त हुआ है। गुजरात की 'सरस्वती चन्द्र' जैसी पुस्तकें भी हिन्दी रूप धारण करके गुजरात के विद्वद्बलों की प्रतिभा का परिचय कराती हैं। पद्मीनार को पुस्तिका के अनुवादों ने सामान्य हिन्दी मनुष्यों को स्वर्ग की कुञ्जी खोल दी है। महात्मा गांधी का 'आरोग्य विषयक सामान्य ज्ञान' हिन्दी वालों को भी सुलभ हो गया है।

यद्यपि इस प्रश्न की विशेष चर्चा महाराष्ट्र में नहीं हुई कि

अपनी मालूम होने वाली और इसी देश में जन्मी हुई हिन्दी में अपने हृदय के सभी तरह के उदात्त विचार और गूढ़ भाव प्रकट कर सकने का खूब प्रयत्न करना चाहिये। सब से पहली बात यह कि हमारे अध्ययन प्रमों में हिन्दी का प्रवेश होना चाहिये। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षण में हिन्दी एक आवश्यक रूप से माना जाना चाहिये। इसके बाद हर एक प्रान्तवासी को राष्ट्र की सेवा के लिये अपनी भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थों का भाषान्तर हिन्दी में करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब अपनी भाषा में लेखना संभव न हो तब हर एक भारतवासी को अपना काम अंगरेजी की अपेक्षा हिन्दी में चलाने का निश्चय करना चाहिये। प्रायः अप्रिल भारतीय प्रश्नों की चर्चा अंगरेजी में होती है, उसके बदले में वह साधारण जनसमाज की समझ में आने योग्य हिन्दी में करनी चाहिये। उदाहरणार्थ—काशी का हिन्दू विश्व-विद्यालय, गोरखपुर का भारत-सेवा-समान, बंगलौर स्थित ताता शास्त्र-संशोधक विद्यापीठ, भागतर्पण्य महिला विद्यापीठ, सकल धर्म परिषद् और राष्ट्रीय सभा आदि। प्रान्तीय शिक्षा के लिये स्थापित संस्थाएँ प्रान्तीय भाषाओं में ही शिक्षा दें, परन्तु अति उच्च शिक्षण के लिये स्थापित एवं भारतीय संस्थाओं में शिक्षा हिन्दी में ही दी जानी चाहिये। हमारे मुसलमान और ईसाई भाइयों के हित के लिये यदि कुरान और बाइबल के अत्यन्त सरल अनुवाद हिन्दी भाषा में शीघ्रता से हो जायें तो कैसा अच्छा हो ?

इतना कर लेने के बाद हम सरकार से भी प्रान्तीय शासन-कार्य में प्रान्तीय भाषा और देश के सामान्य राज्य कार्य में हिन्दी

इस तरह गुजराती, दक्षिणी और बंगाली लोगों ने हिन्दी को अपना-कर उसकी सेवा की है। अतएव उसका प्रान्तीयत्व नष्ट हो गया और शब्द प्राचुर्य के सम्बन्ध में, वाक्य रचना की विविधता में और विवेचन पद्धति के सौष्ठव में वह गम्भीर, ललित, त्रिपुलार्थ-वाहिनी और राष्ट्रीय बनती जाती है। इसी से आज एक महाराष्ट्रीय नाटक मण्डली चलरुत्ते में जाकर हिन्दी भाषा में नाटक करके बङ्गाली रसिकों का मनोरञ्जन कर सकती है।

जिस तरह नदियों पर्वत से थोड़े थोड़े शब्द कर बढ़ती हुई अपनी गोद में वधो (टीला) को खूब दूध (पानी) पिलाती हुई अपना जल महासागर को अर्पण करती हैं, उसी तरह आज किसी भी हिन्दुस्तानी भाषा का उत्तम ग्रन्थ हो हिन्दी में उसका भाषान्तर तत्काल हो जाता है। एक ही ग्रन्थ के गुजराती, मराठी और बंगाली—तीन स्वतन्त्र भाषान्तर सम्मुख रराकर जब हिन्दी लेखक उसका हिन्दी में अनुवाद करता है तब मूल लेखक का रहस्य द्राक्षापाक के समान प्रकट होता है।

इसलिये कानूनी भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है, अथवा हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा होने के योग्य है या नहीं आदि कायरा का भड़का देने वाली अनन्त शराबों से सिरपशी न करके हमें इसी का विचार मुख्यतः करना चाहिये कि हिन्दी-भाषा का प्रसार राष्ट्रभाषा के रूप में शीघ्रता से कैसे हो। थोड़ी बहुत हिन्दी तो हम सब समझते हैं, किन्तु आज की परिस्थिति की ध्यान में रखकर हिन्दुस्तान के भिन्न भिन्न प्रान्तों के साथ व्यवहार बढाकर राष्ट्रसंगठन को अधिक दृढ़ बनाने वाली

—नाइमय की वारिस, हिन्दू-मुसलमानों को एक-समान

## धर्म और सुख

कभी कभी ऐसा देखने में आता है कि अच्छा परिवार, धन-सम्पत्ति, माई बन्धु और मित्र सभी मिलकर भी हमें यथेष्ट सुख नहीं पहुँचा सकते। ऐसी दशा में हम धर्म का द्वार खटखटाते हैं। मनुष्य दो प्रकार के जगत् में रहता है। भौतिक तथा आध्यात्मिक। भौतिक जगत् में उसका सम्बन्ध दृश्यमान प्राणियों से रहता है। परन्तु आध्यात्मिक जगत् में उसका सम्बन्ध उस अदृश्य शक्ति से रहता है जो सर्वत्र ओत प्रोत हो रही है और जिसकी प्रेरणा हम अन्तरात्मा में अनुभव करते हैं। इस शक्ति को लोग प्रभु, परमात्मा, ईश्वर इत्यादि नामों से याद करते हैं। भौतिक जगत् में यदि हमारी अनुकूलता हो भी जावे तो भी जन्म-मरण का चक्र आध्यात्मिक जगत् में हमारा प्रवेश नहीं होता तब तक हमारे सुख की राशि परिपूर्ण नहीं होती। बाहरी परिस्थिति के साथ-साथ अन्दर की परिस्थिति भी हमारे अनुकूल होनी चाहिए।

जब अन्तर्ध्यान होकर हम अपने हृदय का अवलोकन करते हैं तो हमें अपने भाव, निचार, संकल्प, इच्छा, अभिलाषा, कार्य-क्षमता, उद्योग और ज्ञान आदि मन-मानसिक व्यापारों में एक अवधि या भीमा दिखाई देती है। उस अवधि का जब हमें साक्षात् बोध होता है तो हमारे मन में निराशा पैदा होती है और हमारा उत्कर्ष रुक जाता है।



प्रचलित करने के लिये प्रार्थना करके उसे ऐसा करने के लिये मजबूर कर सकते हैं। महकमे जङ्गलात में, वेद्य विभाग में, पुरातत्त्व विभाग में अथवा वातावरण विभाग में हिन्दुस्तान के द्रव्य से जो भी शोध होता है, वह सब हिन्दुस्तान के किसानों और व्यापारियों के उपयोग के लिये सरकार को हिन्दी ही में छपानी चाहिये। इस तरह का आग्रह हम कर सकते हैं, पर इसके लिये मुम्तेदी के साथ प्रयत्न होने चाहिये। हाथ जोड़ कर 'यह कैसे होगा' यह कह कर पड़े रहने में काम न चलेगा। करने से सब कुछ हो सकता है, प्रयत्न करने पर यग मिले बिना नहीं रह सकता।

—काका काचेलव

आडम्बर बनाकर वह कई प्रकार के धार्मिक कृत्य करता है। परन्तु उसके जीवन की गाड़ी टस से मस नहीं होती, जहाँ की तहाँ रहती है। ज्यों ज्यों वह अधिक पाठ करता है त्यों त्यों उसके हृदय की अशान्ति बढ़ती है। यह क्यों? इसलिये कि उसको आन्तरिक बोध नहीं हुआ। उसको अपनी अल्पज्ञता का अनुभव नहीं हुआ। उसे हृदय का परिवर्तन प्राप्त नहीं हुआ। धर्म का, धार्मिक जीवन का उदय उसी परिवर्तन के पीछे होता है।

धर्म को लोगों ने धोरे की टट्टी बना रखा है। वे उसकी आड़ में स्वार्थ सिद्ध करते हैं। बात यह है कि लोग धर्म को छोड़ सम्प्रदाय के जाल में फँस रहे हैं। सम्प्रदाय बाह्य कृत्यों पर जोर देते हैं। वे चिह्नों को अपना कर धर्म के मार और तत्त्व को मसल देते हैं। धर्म मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाता है। उसके हृदय के क्रियाओं को खोलता है। उसकी आत्मा को निशाल, मन को उदार तथा चरित्र को उन्नत बनाता है। सम्प्रदाय सकीर्णता सिखाते हैं। जात पात, रूप रंग तथा ऊँच-नीच के भेदों से मनुष्य को ऊपर नहीं उठने देते। वस्तुतः प्रत्येक सम्प्रदाय धर्म का शत्रु है, धर्म प्रवृत्ति का वातक है।

धर्म चरित्र सगठन पर बल देता है, सम्प्रदाय सिद्धान्तों की तार्किक सिद्धि पर। तर्क का स्थान मानसिक शक्तियों के विकास में मानना पड़ता है। परन्तु वह तर्क क्या, जिसने चरित्र की गाड़ी को रोक रखा हो। हमें जीना है, अच्छी तरह से जीना है। सुखपूर्वक जीना है। इसके लिए यदि धर्म साधन हो सकता है तो उसे क्यों न धारण करें? लोग धर्म को तिलाञ्जलि इसलिए देते हैं कि वे धर्म को जीवन-सुख का साधन नहीं बनाते। वे

अपनी सीमाओं के साक्षात् बोध से हमारा तब दृढ़ है। जिन यात्रा पदार्थों पर हमें नाज़ था वे सब अब हमें नज़र आते हैं। हमारा चिष्टकोण बढ़न जाता है। घाटर से हट कर हमारी आँख भीतर की ओर जाने लगती हैं। अल्पज्ञ सर्वज्ञ की तलाश करना है। सीमा-युक्त आत्मा असीम परमात्मा की ओर बढ़ता है। इसी जो घम का उन्मत्त तथा धार्मिक जीवन को जागरण कहते हैं। यह जागरण जब आत्मा में पैदा होता है तो कभी कभी उसका प्रभाव इतना गहरा होता है कि उद्धुष्ट आत्मा को पहचानना कठिन हो जाता है। धार्मिक जैमे प्रसिद्ध ढाढ़ इससे प्रभाव से महात्मा बन जाते हैं। उनका व्यक्तित्व सर्वशक्ति में विलीन जाता है। उनका नरक स्वर्ग में परिणत हो जाता है।

धर्म का स्थान इन्हीं है। जहाँ अल्पज्ञ का सर्वज्ञ के साथ मेल होता है, वहाँ मनुष्य को अपनी अगाध आत्मा के कारण एक ऐसी शक्ति का सहवाम प्राप्त होता है जो सदैव उसको आत्मार्पण का मार्ग दिखाती है और जो सदा उसे परोपकार में प्रवृत्त करती है। जब यात्रा की परिस्थिति, भाई, बन्धु, मित्र, धन, सम्पत्ति, सब उसको ज्ञान के बैठते हैं तब भी वह अन्तर की (सर्वत्र व्यापक) सत्ता उसका साथ नहीं छोड़ती। उसका उत्साह बनाए रखती है। उसके लिए निरन्तर उत्पत्ति का मार्ग खोल देती है।

धर्म इसी आन्तरिक अनुभव का नाम है। जब तब आत्मा को परमात्मा का बोध नहीं होता तब तक वह ठोकर खाता है, भटकता है, मर-मरदान रहता है। मन्दिर, मस्जिद और गिर्जे में—एक बार नहीं, अनन्त बार—मिर झुका, मस्तिष्क निरा धर्म-पुष्प का पाठ करता रहता है। नित्य नये स्थापन रखकर, नित्य

उसके पाम नहीं फटकता। तो फिर चिन्ता का क्या काम ? धर्मात्मा मनुष्य इस बात को सिद्धान्तरूपेण स्वीकार कर लेता है कि कर्म करना मेरा धर्म है, कर्म पर मेरा अधिकार है। परन्तु कर्म के फल पर अपना अधिकार नहीं। फल अपने हाथ की बात नहीं, अतः उसके सम्बन्ध में चिन्ता व्यर्थ है। धर्म और चिन्ता दोनों साथ साथ नहीं रह सकते।

धर्मात्मा व्यक्ति जड़ा जायगा प्रसन्नता का सन्देश साथ ले जाएगा। प्रसन्नता से स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है। क्या तुम नहीं जानते कि कई मनुष्यों की मङ्गति में हम अपने आपको क्रमशः उन्नत होते हुए अनुभव करते हैं ? उनके देखने मात्र से हमारा चेहरा गिल जाता है। हमारा रक्त उड़ जाता है। विपरीत इसके कई मनुष्य ऐसे भी होते हैं जिनके चेहरे पर माहान् शमशान-भूमि का दृश्य दिखाई देता है। जिनकी उपस्थिति में हमारे चेहरे कुम्हला जाते हैं। ओर बातचीत से तो ईश्वर दया करे, हमारे हृदय एकदम बैठ जाते हैं। पहली कोटि के मनुष्यों को हम धर्मात्मा कहेंगे, चाहे वे मस्जिद, मन्दिर और गिरजे में न जाने वाले हों। दूसरी कोटि के मनुष्यों को हम धर्मात्मा नहीं कह सकते, चाहे दिन रात वे मन्त्र-जाप क्यों न करें।

धर्म और सुदर्शन दो विरोधी बातें हैं। धार्मिक जीवन हमारे असन्तोष को दूर करता है। साधारणतया मनुष्यों के हृदय असन्तोष की अग्नि में सतत रहते हैं। जब हम एक अच्छे व्याख्याता का भाषण सुनते हैं तो हममें एक व्याख्याता बनने की चाह उत्पन्न होती है। जब एक प्रसिद्ध पहलवान को देखते हैं तो पहलवान के

इसे आढम्बर-रचना का रूप दे कर सुख से कोसों दूर रहते हैं।

धर्म जत्र मनुष्य के हृदय में उदय होता है तो उसका दृष्टि कोण बदल जाता है। सेवा, सहायता तथा परोपकार में उसका मन लगता है। दूसरा की सुख-वृद्धि में उसे आनन्द आता है। जीवन को वह कम प्रधान बना लेता है। ज्ञान से विमुक्त नहीं होता, अपितु ज्ञान और कर्म दोनों के सम्पर्क द्वारा धार्मिक-जीवन की सिद्धि प्राप्त करता है। कर्म शून्य ज्ञान और ज्ञान-शून्य कर्म ही सचे धर्म में बाधक होते हैं। परन्तु ज्ञान और कर्म का मिलान जिस जीवन में हो जाता है उसमें सुखों की गंगा बहने लगती है।

ज्ञान और कर्म का संयोग मनुष्य के भीतर उपामना का भाव उत्पन्न करता है, मनुष्य ईश्वर के निरुद्ध पहुँचता है, भक्ति की लालसा जागृत हो जाती है, हृदय प्रेमरस से पूर्ण हो जाता है। आत्मा और परमात्मा का सहवास, सहचार तथा परिधि आत प्रीति-भाव अनुभव होने लगता है। भक्त अपने परमेश्वर का भेद भूल जाता है। सर्वत्र भ्रातृत्व के भाव को स्वीकार करता है। सारा ब्रह्माण्ड उसे एकता के मूल में पिरोया हुआ दायता है। विश्व-प्रेम से उसका हृदय भर जाता है। यही विश्व प्रेम धर्म का उन्नत तथा उज्ज्वल स्वरूप है।

धर्म की ही सहायता से मनुष्य अपने भीतर और बाहर की परिस्थिति में अनुरक्तता, समता तथा निरोगी भाव उत्पन्न करता है। उसका मन, शरीर और बुद्धि उज्ज्वल हो जाते हैं। जहाँ साधारण व्यक्ति धरत उठते हैं वहाँ धर्मात्मा मुस्कराता हुआ अपनी प्रसन्नता का सन्तुष्ट लेता है, चिन्ता उसके निरुद्ध नहीं आती। जो गति करने योग्य है उसे वह करता है, जो त्याग्य है

समस्या हल हो जाती हैं। जातियों के कितने बड़े बड़े झगड़े मिट जाते हैं। आज ससार में जो अशान्ति फैल रही है और जिसके कारण राष्ट्र घेरेस दीखते हैं वह इसीलिए है कि कानूनी कार्यवाही द्वारा मनुष्यों के हृदय को बदलने की कोशिश की जाती है। कानून और दण्ड से वह फल प्राप्त नहीं होते जो धार्मिक प्रचार से सिद्ध होते हैं। जो कार्य तोपें, गन्दूकें, फौजें, लडाई के जहाज और वायुयान नहीं कर सकते, उसे धर्म-प्रचार तथा उपदेश कर देता है। धर्म मनुष्यों के हृदयों को प्रेम के सूत्र में बांधने का प्रयत्न करता है। अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म तथा धार्मिक जीवन की बड़ी आवश्यकता है।

धार्मिक व्यक्ति की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह अपना आधार बाह्य ससार से उठाकर ईश्वर पर छोड़ता है। उसका जीवन ईश्वर-आश्रित बनता है। जिस प्रकार एक बालक अपनी माता की गोद में जाकर ससार का सब भय भुला देता है और हर प्रकार से परितुष्ट और वृत्त हो जाता है, इसी प्रकार एक धर्मात्मा व्यक्ति ईश्वर का आश्रय पाकर ससार की सब विरोधी शक्तियों से निर्भय हो जाता है। तब वह याचना का हाथ प्रभु के आगे पसारता है। उसका मागना उसकी अपनी हृदय की पुकार के द्वारा होता है। बनावटी प्रार्थना से उसका जी नहीं भरता, वह अपनी सरलता से जो चाहता है, मागता है। मानो वचा अपने पिता के सामने खड़ा हाथ जोड़े वे चीजें माग रहा है जो उसके पिता के पास मौजूद हैं। और जिनको वह वचा दे रहा है और हाथ बढ़ा उनकी ओर निर्देश कर रहा है।

तजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्य मयि धेहि ।

समान हृष्ट पुष्ट बनने की अभिलाषा होती है। जब वायु-यान का उड़ात किसी को देख लते हैं तो वायु-यान चलाने वाला घनत्व चाहते हैं। इसा प्रकार जब पास में गुजरती हुई सेना के आग-सुसज्जित सेनापति को घोंडे पर सवार देखते हैं तो सेनापति बनने का भी ललचाता है। यहीं तब नहीं हर समय जो विन-क्षणता अथवा नमीनता हमारे सामने आती है हमारे मन में अभ्यन्ताप की लहर उत्पन्न कर जाती है। हम यह नहीं सोचते कि इन ही शरीर में विद्वान्, व्याख्याता, पहलवान वायुयान चलाने वाला तथा सेना नायक ऐसे रह सकते हैं। अतः इस प्रकार का असन्तोष व्यर्थ है। धार्मिक जीवन ऐसे असन्तोष का निराकरण करता है, परस्पर विरोधी भावों को मन से हटा देता है और एक लक्ष्य में मनुष्य को स्थिर बना कर उसकी सग-शक्तियों को उसी लक्ष्य की प्राप्ति में लगा देता है।

धार्मिक जीवन का निर्माण करने वाला सब से बड़ा अङ्ग ईश्वर विश्वास है। विश्व प्रेम, विश्व भावुन्य तथा समान-सेवा और सहायता व भाव ईश्वर-विश्वास द्वारा ही सिद्ध होते हैं। राष्ट्र भी इन भावों की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु राष्ट्र-नियम बाह्य रूप से ही मनुष्यों को आदेश देते हैं, धर्म हृदय व अन्तर्गत होकर परिवर्तन पैदा करता है। राष्ट्र नियम दण्ड के जोर से व्यक्तियों को डाँकता है, धर्म प्रेम, सहानुभूति, सौजन्य के शास्त्र का प्रयोग करता है। इसीलिए धर्म का मार्ग सुधार के लिए अधिक उपयुक्त माना गया है। धर्म मनुष्य के हृदय में प्रेरणा करता है "लालच छोड़ो" "द्रव्यां द्वेष छोड़ो"। इनके छोड़ने से ससार में कितनी बड़ी बड़ी सम-

समस्याएँ हल हो जाती हैं। जातियों के कितने बड़े बड़े झगड़े मिट जाते हैं। आज ससार में जो अशान्ति फैल रही है और जिसके कारण राष्ट्र बेवस दीखते हैं वह इसीलिए है कि कानूनी कार्यवाही द्वारा मनुष्यों के हृदय को बदलने की कोशिश की जाती है। कानून और दण्ड से वह फल प्राप्त नहीं होते जो धार्मिक प्रचार से सिद्ध होते हैं। जो कार्य तोपे, बन्दूकें, फांसे, लड़ाई के जहाज और वायुयान नहीं कर सकते, उसे धर्म प्रचार तथा उपदेश कर देता है। धर्म मनुष्यों के हृदयों को प्रेम के सूत्र में बांधने का प्रयत्न करता है। अतर्जातीय समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म तथा धार्मिक जीवन की बड़ी आवश्यकता है।

धार्मिक व्यक्ति की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह अपना आधार बाह्य ससार से उठाकर ईश्वर पर छोड़ता है। उसका जीवन ईश्वर-प्राश्रित बनता है। जिस प्रकार एक बालक अपनी माता की गोद में जाकर ससार का सब भय भुलता है और हर प्रकार से परितुष्ट और तृप्त हो जाता है, इसी प्रकार एक धर्मात्मा व्यक्ति ईश्वर का आश्रय पाकर ससार की सब विरोधी शक्तियों से निर्भय हो जाता है। तब वह याचना का हाथ प्रभु के आगे पसारता है। उसका मागना उसकी अपनी हृदय की पुकार के द्वारा होता है। बनावटी प्रार्थना से उसका जी नहीं भरता, वह अपनी सरलता से जो चाहता है, मागता है। मानो बच्चा अपने पिता के सामने खड़ा हाथ जोड़े वे चीखें माग रहा है जो उसके पिता के पास मौजूद हैं। और जिनको वह बच्चा देख रहा है और हाथ बढ़ा उनकी ओर निर्देश कर रहा है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।



बलममि बल मयि धेहि । आजोऽस्योजो मयि धेहि । मन्वुरासि  
मन्यु मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि । असतो मा सद्गमय ।  
तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृत गमय ।

इस प्रकार ईश्वर को सब गुणों और शक्तिया का महान्  
मान कर मनुष्य जब उसी को अपना जीवनाधार बना लेता है  
तो उसका भटकना बंद हो जाता है । भटकना बंद होजाने में  
उसके दुःख मिट जाते हैं । वह अपने आपको मनुष्य-मात्र की  
सेवा में लगा देता है । उसका जीवनध्येय उसे प्राप्त हो जाता है ।

—गुधाकर टेम्पल

(५)

## मित्रता

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकल कर बाहरी सार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहिली कठिनता उसे मित्र बनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति मिलकुल एकान्त और बेराली नहीं रहती है तो उसकी जान पहचान के लोग बड़ा धड़कत जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका मेल जोल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है। हम लोग उसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जब कि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का सरकार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिए बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ सकल्प के हैं, क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी बात को ऊपर रखते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दान रहती है और न हमारे लिए कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जित

रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्रायः बहुत कम होता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो वह भय नहीं रहता, पर युवा पुन्य प्रायः विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसका गुण-दोष को कितना परख कर लेते हैं, पर किसी को मिन धनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसन्धान नहीं करने। वे उसमें सब बातें अच्छी ही मान कर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हंसमुख चेहरा, बातचीत का ढंग थोड़ी चतुराई वा साहस—यह ही दो चार बातें किसी में देख कर लोग चढ़पट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मेरी का उद्देश्य क्या है, तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। ये बातें हमें नहीं सूझती कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्म शिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—“विश्वासपात्र मित्र मेरी यही भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाए उसे समझना चाहिए कि राजाना मिल गया।” विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषधि है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम संकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और धुटियाँ से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और सयादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे, सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सही मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परम्व होती है, अच्छी

से अच्छी माता का सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सज़ार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे के जो स्नेह-बन्धन होते हैं उनमें न तो उतनी उमंग रहती है न उतनी चिन्ता। बाल मेत्री में जो मग्न करने वाला आनन्द होता है, जो हृदय को वेधने वाली ईर्ष्या और रित्रता होती है, वह और कहा ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है, कैसा अपार विराम होता है। हृदय के कैसे कैसे उद्गार निकलते हैं। वर्तमान केमा आनन्दमय दिग्राई पड़ता है और भविष्य के सम्बन्ध में कैसी लुभाने वाली कल्पनाएँ मन में रहती हैं। कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना मनाना होता है। 'महपाठी की मित्रता' इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल पुथल का भाव भरा हुआ है। किंतु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शान्त और गम्भीर होती है उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन के झुझझटों में चलता नहीं। सुंदर प्रतिभा, मनभावनी चाल और स्वच्छन्द प्रकृति ये ही दो चार बातें देख कर मित्रता की जाती है, पर जीवन सग्राम में साथ देने वाले मित्रों में इनसे कुछ अधिक बातें चाहिए। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जाएँ पर भीतर की

भीतर घुणा करत रहें। मित्र सचे पयप्रदर्शक के समान चाहिए जिम पर हम पूरा विश्वास कर सकें, भाई के होना चाहिए जिमे हम अपना प्रतिपात्र बना सकें। और हमारे मित्र के बीच सभी सहानुभूति होनी चाहिए। ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बग़र-ग़ोर ख़बर लिग करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-नाम के दूसरा अपना हानि-नाम समझे। मित्रता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करत हों या एक ही रुचि के हों। हमी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता आवश्यक और बाइनोय नहीं हैं। दो मित्र प्रकृति के मनुष्यों में बख़तर प्रीति और मित्रता रहें हैं। राम वीर और शान्त प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और वदत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा क्षमाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी पर उन दोनों की मित्रता खूब निर्भी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समान में विभिन्नता देखकर लोग एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हममें नहीं हम चाहते हैं कोई एमा मित्र मिले जिममें वह गुण हो। चिन्ताशील मनुष्य प्रफुल्ल चित्त मनुष्य का साथ देता है, निर्मल बली का, धीर जमाही का। उग्र आकांक्षा वाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपायक लिए चाणक्य का मुह चाकता था। नीति विचारद अरुण मन वहलाने के लिए वीरनल की ओर देखता था।

मित्र का कर्तव्य इस प्रकार बताया गया है—“उग्र और

रहाकार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढाना, और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से घादर काम कर जाओ।" यह कर्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढचित्त और सत्य स्वल्प का हो। इसमें हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मरत्न हो। हमें उनका पक्ष उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुमाय ने राम का पक्ष पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों। मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सयनिष्ठ हों। जिसमें हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा।

जो बात ऊपर मित्रों के सम्बन्ध में कही गई है, वही जान-पहचान वालों के सम्बन्ध में भी ठीक है। जान पहचान के लोग ऐसे हैं जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हैं, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हैं, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है, उसमें खाने के लिए समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते हैं, न कोई बुद्धिमान्ता या विनोद की बात-चीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें टारम बसा सकते हैं, न आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़-भूर्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान पहचान बढाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर

देखने जायगे, नाच-रग में जायगे, सैर-सपाटे में जायगे, भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करगे। यदि ऐसे ज्ञान पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये ज्ञान पहचान के लोग उन मनचले युग्मों में से निकलें जिनकी सख्या दुर्भाग्यवश आज बहुत बढ़ रही है, यदि शोहदा में से निकलें जो अमीरों की घुराईया और मूर्खताओं की नखल मिया करते हैं, दिन रात उनासिंगार में रहा करते हैं, महफिना में 'ओ हो हो' 'बाह बाह' मिया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते हैं। ऐसे नरयुग्मों से बटकर शुन्य, नि मार और शोचनीय जीवन किसका है? वे अच्छी बातों के सचे आनंद से फोसों दूर हैं। उनके लिए न तो ससार में सुन्दर और मनोहर उम्मीदें बाली रुबि हुए हैं और न सुन्दर आचरण वाले महात्मा हुए हैं। उनके लिये न तो बड़े बड़े धीर अद्भुत कर्म कर गए हैं और न बड़े-बड़े ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड़ गए हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिए फुल पत्तियां में फोड़ सोन्य नहीं करनेों के कलकल में मधुर संगीत नहा, अनन्त सागर-तरंगों में गम्भीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सचे प्रयत्न और परुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शान्ति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशाया और कुत्सित विचारों में कनुपित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन दिन अधकार में पतित होते देख कोन

ऐसा होगा जा तरस न गायगा ? जिसने स्वसम्भार का विचार अपने मन में ठान लिया हो उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिये ।

कुमंग का ज्वर मय में भयानक होता है । यह केवल नीति और सद्बृत्ति का ही नाश नही करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है । किसी युवा पुरुष को मगत यदि घुरी होगी तो वह उसके पैरों में घड़ी चपी व समान होगी जो उसे तिन दिन अव नति के गढ़े में गिराती जायगी, और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली घाटु के समान होगी जो उसे निरन्तर उन्नति की ओर उठाती जायगी ।

इंगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली । इस पर ज़िदगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा । बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि यहाँ वह घुरे लोगों की सगत में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते । बहुत से लोग उसे होते हैं जिनके घड़ी भर व साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्यापि उतने ही बीच में ऐसी ऐसी बातें फटती हैं जो कानों में न पड़नी चाहियें, चित्त पर ऐसे ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है । घुराई अदल भाव धारण करके बैठती है । घुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिन तक टिकती हैं । इस बात को प्रायः सब लोग जानते हैं कि भट्ठी दिल्ली का फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गम्भीर वा अच्छी बात नहीं । एक बार एक मित्र ने मुझ से कहा कि उसने लडकपन में कहीं से एक घुरी



कहावत सुन पाई थी, जिसका ध्यान वह लार से चेष्टा करता है कि न आवे, पर धार धार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते, वे धार धार हृदय में उठती हैं और बंधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा, अथवा तुम्हारे चरित्र-मूल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें करने वाले आगे चल कर आप सुधर जायेंगे। नहा ऐसा नहीं होगा। जब एक धार मनुष्य अपना पर कीचड़ में डाल देता है तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहां और कैसी जगह पर गिरता है। धीरे धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते-होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिड़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिड़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा चरित्र कुण्ठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायगी। अन्त में होते-होते तुम भी बुराई के भस्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निःशुद्ध रखने का मन्त्र से अच्छा उपाय यही है कि बुरी भगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

“काजल की कोठरी में कैसेही सयाना प्राय,  
एक लीक कानल की लागि है पै लागि है।”

( ६ )

## सौन्दर्य

प्रकृति की लीला विचित्र है। उसके गूढ़ रहस्या का उद्घाटन करना तथा त्रिकट चलकनो को सुलभाना माननी शक्ति से परे है। अनेक स्थलों में हमने केवल कल्पना के आश्रित होना पड़ता है। सौन्दर्य भी एक ऐसा ही जटिल विषय है। कहने को तो हम वस्तुओं को सुन्दर अथवा कुरूप कह जाते हैं, परन्तु हम में से अधिकांश हम बात से अनभिज्ञ हैं कि सुन्दरता की कुछी स्वयं हमारे हृदय में ही है। यह कुछा हमारे ही मस्तिष्क के सॉचे में डली है, अतएव प्रत्येक ताले को खोलने के लिये उपयुक्त नहीं है। दूसरों को सुन्दर प्रतीत होने वाली वस्तुएँ हमने भी सदा वसी नहीं प्रतीत होती। ऐसा क्यों होता है ? तथा सुन्दर वस्तुओं की ओर हमारा चित्त स्वतः ही क्यों आकर्षित होने लगता है ? इन्हीं विषयों की मीमांसा करने के अभिप्राय से, हमने प्रस्तुत लेख में, सौन्दर्य की परिभाषा एवं परिपाटी की कुछ मनो-वैज्ञानिक व्याख्या पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा की है।

इन्द्रधनुष सुन्दर है, वीणानिनाद सुन्दर है, अरुणोदय की लाली से सयुक्त उपाकाल भी सुन्दर है, ऐसा क्यों है ? इन्द्र-धनुष नयनाभिराम है, वीणा की झङ्कार कर्णेन्द्रियों को रुचिकर है एवं प्रभात का समय हृदय का समुत्फुल्लकारी है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुओं की सुन्दरता हमारी ज्ञानेन्द्रियों के

अनुभव पर ही निर्भर है प्रत्येक सुन्दर वस्तु किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय को एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान कर अन्तः हृदय के आह्लाद का कारण होती है। किन्तु सुन्दरता का यह सिद्धान्त गणित व मिद्धान्तों की भाँति विग्न-व्यापी एवं अपरि-यतनशील नहीं है। सुन्दरता मानसिक विषय है अर्थात् हमारी कसौटी मस्तिष्क है। भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्यों के मस्तिष्क का गठन भिन्न भिन्न प्रकार का होना अनिवार्य है, अतएव सौन्दर्य की कसौटी एक सा न होने का कारण 'अगुण वस्तु सब को 'प्रिय है' ऐसा कहा जा सकता है। सौन्दर्य किसी वस्तु विशेष का अन्तर्हित गुण नहीं है वह तो हमारा किसी वस्तु को विचार में लाने का प्रकार मात्र है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सुन्दरता कोई ऐसी कार्यकारिणी शक्ति नहीं है जो प्रत्येक हृदय पटल पर प्रभाव उत्पन्न कर सकें, बरञ्च वह तो स्वयं हमारी कार्यकारिणी एवं कल्पना-मूलक विचारशक्ति का परिणाम है। सुन्दर वस्तुओं के अवलोकन से भावों के हृदय में निरार अवश्य उपजता है, परन्तु इस प्रकार का सञ्चालन तथा उनकी रचना पूर्णतया मस्तिष्क व ही अधीन है।

व्यक्तित्व, देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार सौन्दर्य का आदर्श भी बदलता रहता है। एक वस्तु यदि किसी को प्रिय है तो दूसरे को अप्रिय। इन्द्रधनुष, यौगन्ध्या तथा उपाकाल सब को ही सुन्दर नहीं प्रतीत होते। ग्रीस के कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित पत्थर की मूर्तियाँ, सुप्रसिद्ध चित्रकार रबिन्सों की अत्युत्कृष्ट चित्रकारी अथवा शरत्पूर्णिमा की ज्योत्स्नामयी रात्रि में सुधाशु की पीयूषवर्षिणी कलाओं से शुभ्र स्फटिक के समान

दीप्तिमान ताजमहल, एक नीरम हृदय में सौन्दर्यानुभव की तरङ्ग नहीं उत्पन्न कर सकते। इसका कारण यह नहीं कि उस व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ निश्चेष्ट हैं, वरन् यह कहना चाहिए कि उसका भस्तिष्क इन वस्तुओं पर कतिपय आदर्श-कल्पनाओं के सम्बन्ध निर्धारित करने में असमर्थ है। इन्हीं वस्तुओं को एक बुद्धिमान कल्पना के सूत्र में आबद्ध कर हृदय का द्वार बग़ल लेता है।

संगीत क विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। श्रियुक्त विष्णु दिगम्बर जैसे सङ्गीत कलाविद् का गान भी बहुतेरों को कर्णकटु प्रतीत होता है। इसमें उनकी कर्णेन्द्रियाँ का कोई दोष नहीं है। हमारे देश की भील, सन्थाल इत्यादि जगली जातियों में प्रचलित राग सुशिक्षित सङ्गीतानुरागियों को अवश्य अन्विष्ट होंगे। पर सम्भव है कि जिस गान का श्रवणामृत पान कर आधुनिक श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं वही कालान्तर में जगली की उपाधि से विभूषित कर दिया जाए। अस्तु—

इससे सिद्ध हुआ कि सौन्दर्य वस्तुओं का ऐसा गुण नहीं है जो अन्तरङ्ग पर स्थायी हो। सुन्दरता केवल एक मुद्रा है, जो द्रष्टा अथवा श्रोता अपनी इच्छानुसार वस्तु पर अङ्कित कर देता है। हमने अपने हृदय में जो आदर्श स्थापित कर लिया है, उससे सामञ्जस्य रखने वाली प्रत्येक वस्तु हमें सुन्दर भासित होती है। अर्थात् कल्पित तथा समस्त उपस्थित वस्तुओं का एकीकरण ही हमारा सौन्दर्य-विज्ञान है। इसी एकीकरण के अभाव से हम अनेक वस्तुओं को उदासीनता तथा घृणा की दृष्टि से देखने को बाध्य हो जाते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि बा-यावस्था में हम जिन वस्तुओं की ओर आकर्षित होते हैं वे ही कालान्तर

में हमें अम्राट हो जाती हैं। इसी प्रकार युवावस्था में माधारण दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुएँ प्रौढावस्था में सुन्दर प्रतीत होने लगती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी प्रियता का मुकुट विभिन्न वस्तुओं का अपेक्ष होता रहता है। जति, देश, काल इत्यादि व्यक्तियों के ही रुचि के अधीन हैं, अतएव इनमें सौन्दर्यादर्श तन्तु रूप परिवर्तित होता रहता है। उदाहरणार्थ अफ्रीका का हररी इस सम्बन्ध में जैसी अभिगन्धि रखता है, उस में सभ्य देशवासी कदापि महमत्त नहीं हो सक्त।

उपर्युक्त प्रमाणों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि सुन्दरता का निश्चित रूप न तो कोई है, और न हो सकत है। मनुष्य की मानसिक शक्ति अपरिमित एवं अस्थिर होने के कारण, सौन्दर्य का आदर्श किसी नियम अथवा सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं हो सकता। हम सांसारिक तथा काल्पनिक पदार्थों की तुलना कर, दोनों में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने का चेष्टा किया करते हैं। मानसिक विकास के साथ साथ कल्पना क्षे- भी निस्तीर्ण एवं परिमार्जित होता जाता है, अतएव पूर्ण निर्धारित सम्बन्ध कुछ समय में विच्छिन्न हो जाते हैं। दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाने के कारण वस्तुएँ नवीन रूप में निखलाई पड़ने लगती हैं। फल यह होता है कि पूर्वोक्त प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पुन नूतन वस्तुओं की ओर चित्त का मुकाब होता है। एवं सौन्दर्यादर्श नित्य इसी प्रकार स्थानान्तरित होता रहता है। यदि हम एक वायुयान में बैठकर अथवा अन्य किसी प्रकार ऊँचे उठने लगते हैं, तो क्रमश नीचे की वस्तुएँ हमारी दृष्टि से पतित होती जाती हैं, तथा ऊपर की वस्तुएँ हमारा ध्यान आकृष्ट

करने लगती हैं। इसी प्रकार शिवा के प्रभाव में 'आदर्श' का तल समुन्नत हो जाने के कारण जो वस्तु पहले सुन्दर प्रतीत होती थीं वे ऐय हो जाती हैं, तथा जो वस्तु पहले हृदयग्राही नहीं थीं उनमें ही, अब अनेक मूढमना दीख पड़ने में, मूर्ख के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। जलपायु, परिस्थिति, आचार व्यवहार, शिक्षा इत्यादि के कारण विभिन्न जाति के मनुष्या की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं, अतएव जैसी वस्तु एक जाति को प्रिय हो ऐसी अन्य दश जातियों को बहुधा साधारण अथवा अप्रिय प्रतीत होती हैं।

यह बात अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध की जा सकती है कि वास्तव में सौंदर्य केवल एक मानसिक कर्म है, निर्मा यन्त्र का गुण नहीं। हिमालय की हिमाच्छादित एवं गगनस्पर्शी चोटियाँ एक दूर देश से आए हुए पथिक का हृदय अनिर्वचनीय आनन्दोत्साह से परिपूर्ण कर देती हैं। इसका विपरीत उन्हीं के मध्य में जीवन व्यतीत करने वालों के हृदय में उन्हें देखकर सौंदर्य का भाव किंचित् मात्र भी नहीं जागृत होते। सम्भव है कि भय अथवा प्रेयस के विचार उन्हें अधीर कर दें। भय इस कारण कि अवस्मात् हिम की नयी आकर उनको कष्ट न पहुँचाय, तथा प्रेयस इस कारण कि उनको परित्याग करके वह अन्यत्र जा भी नहीं सकते। पर तु पथिक को उनमें एव अपने कल्पित 'आदर्श' में कतिपय सम्बन्ध अनुभव होने लगते हैं जिनका कारण वे शिरार उसे सुंदर दृष्टिगोचर होते हैं। हिम मुकुट विभूषित, आकाश चुम्बित तथा उन्नत-भुस्तक गिरि-शृङ्ग उसे तत्काल

अलभ्य, अव्यक्त, अलौकिक, अपरिवर्तनशील एवं परम पुनीत जान पड़ते हैं। उनकी रचना अव्यक्त, एवं पदार्थ तथा रूप अपरिवर्तनशील ज्ञात होता है। ये अमित उर्चाई तथा विस्तार होने से अलभ्य एवं अलौकिक, तथा तागगण राचित गगन-मण्डल से आगुप्त रहने के कारण परम पुनीत मालूम होते हैं। पथिक, उपर्युक्त सर्व गुणों की समष्टिरूप, उन हिमगिरि-शृङ्गा को निज सौंदर्य-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता है। किन्तु यह मन्दिर तो उसीका निर्माण किया हुआ है। सुदरता पर्वत-शृङ्गों में निहित नहीं है, वरन् स्वयं उसके हृदय में तथा उसके मस्तिष्क में है। उसने कल्पना के दिव्य रङ्ग से रञ्जित कर इनको अपने लिये सुदर बना लिया है। इस कल्पना व अभ्यास में यही शिखर केवल जड़वत् प्रतीत होते हैं अतएव इनको देखकर एक गँवार के हृदय में श्रम, असुविधा, भय इत्यादि का भाव उद्भूत होना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार जिस समय भगवान् भुवन भास्कर अपनी दैनिक यात्रा से क्लान्त हो प्रस्ताचल की ओर अग्रसर होते हैं, तथा उनकी प्रिया पश्चिम दिशा अपने प्रियतम का आगमन जान उनके स्वागत के लिए अपूर्व शृङ्गार वारण करनी है, उस समय की अघर्षणीय शोभा से कौन सा भावुक मुग्ध न होगा? तेजोमय दिवस एवं अन्धकारपूर्ण रात्रि का सहमिलन, विविध वर्णों का देवी सङ्घटन तथा दिग्दर्शन पक्षिगण का सुमधुर कलरव, इत्यादि विविध प्रभावपातक घटनाओं का मणिपात इस दृश्य को एक अनूठी छटा प्रदान कर मनोमाहुर बना जाता है। हमारा जीवन क्षणभङ्गुर, परिवर्तनमय एवं ईश्वराशीन है, जब यही सादृश्य हम सन्ध्याकाल की प्राकृतिक घटनाओं में पाते हैं, तो इस

नैसर्गिक दृश्य की शोभा और भी अनुपम हो जाती है। प्रकृति के रहस्यों की तुलना अपने जीवन के रहस्यों से करना मनुष्य का स्वभाव है। इसी कारण असाधारण सौन्दर्य का जो प्रभाव हमारे अन्तःस्थल पर पड़ता है उसमें सदैव विपाद की कुछ मात्रा मिश्रित होकर उस प्रभाव को अधिक कार्यक्षम बना देती है। सुन्दर वस्तु के दर्शन मात्र से हमको उस वस्तु की, ससार की तथा अपनी अनियता बोध होने लगती है, जिससे हमारे हृदय सागर में वैराग्य की एक लहर आलोकित हो कर प्रयत्न रूप में हमारे चित्त के विपाद का कारण होती है। किन्तु उल्लिखित सम्बन्ध न रोज स्रुने के कारण एक अशिक्षित व्यक्ति पर इन घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, और सूर्यास्त का दृश्य उसे तनिक भी सुन्दर प्रतीत न होगा। हाँ, ऋतुहान के निमित्त यदि उसकी दृष्टि आकाश की ओर उठ जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

स्त्री जाति के सौन्दर्य की भी ऐसी ही विवेचना की जा सकती है। समग्र भारत में सुन्दरता के लिए विख्यात होने पर भी यह सम्भव नहीं कि अफ्रीका, पापुआ अथवा जापान के अधिवासी एक भारतीय सुंदरी के सौन्दर्य की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करें। इसी प्रकार यदि उन देशों की कोई तरुणी श्वर पदार्पण करे तो उसका भी यही हाल होगा। परंतु फिर भी वे सब की सब सुंदरी हैं, इस कारण नहीं कि सौन्दर्य गुण उनमें स्वभावतः समाविष्ट है, बरन इस कारण कि वे निज निज देशवासियों के सौन्दर्यादर्शन से निरुत्तम सादृश्य रखती हैं। भारतीय, अफ्रीकन, पापुअन तथा जापानी यौवन के रूप की जैसी कल्पना करते हैं



इन स्त्रियों में से किसी एक को उसके अनुरूप पाकर सौन्दर्य की पुष्पाञ्जलि उमरी भेंट कर देते हैं। हम यह जानते हैं कि हिमालय तथा सूर्यास्त की शोभा से हमारा हृदय विपाद-युक्त हो जाता है। एक सौन्दर्य-सम्पन्न युवती के दर्शन से भी विपाद के भाव उसी प्रकार जागृत होते हैं। कारण स्पष्ट है। जो आदर्श मूर्ति हमारी करपना के सिंहासन पर सुशोभित है, वह पार-लाकिन है अर्थात् हम उसे क्षणमङ्गूर तथा परिवर्तनशील नहीं समझते। परन्तु योवन अल्पकालिक एवं अस्थिर है, अतएव युवती के दर्शन से जनित हृदय की अवस्था में विपाद का कुछ मन्मिथ्रण अवश्यम्भावी है। यह विपाद इस विचार से उत्पन्न होता है कि सभी सामाजिक पदार्थों के समान योवन भी अनित्य एवं निस्सार है।

अतएव हम पुनः इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सौन्दर्य किसी वस्तु को ऐसा आन्तरिक गुण नहीं है, जैसा मिश्री में माधुर्य अथवा फूल में सुगन्ध। यदि हम किसी वस्तु को सुन्दर समझो तो वह वस्तु हमारे लिए इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे देखने से पूरा उस वस्तु में कोई ऐसा सर्वमान्य तथा अविनाशी लक्षण अन्तर्हित था, जिसके कारण वह केवल हमको ही नहीं, बल्कि मार जगत् को सुन्दर प्रतीत होती है। अतएव अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं कि हमने सुन्दर प्रतीत होने वाली सम्पूर्ण वस्तुओं में कुछ संगणना हो। जिस प्रकार सारे ससार की मीठी

मिठास पाया जाता है, ऐसा ही कोई एक गुण सर्व में मिलना कठिन है। हिमालय पर्वत, सन्ध्या का

मेघमय, तथा एक सौन्दर्यमयी कामिनी, इन तीनों में

किमी प्रकार की तुलना नहीं है, किन्तु एक भावुक के लिये ये तीनों ही सुन्दर हैं। वस्तुएँ गोलाई के कारण गोल, म्याद के कारण स्वादिष्ट, कठोरता के कारण कठोर, इत्यादि कहलाती हैं, परन्तु यदि हम प्रकार का निश्चित कोई गुण अथवा नियम प्रत्येक सुन्दर वस्तु में ढूँढ़ निकालने की चेष्टा की जाय तो वह निष्फल होगी। प्रथम तो भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों के कारण व्यक्तिगत आदर्श ही असमान हैं, दूसरे एक व्यक्ति प्रत्येक के आदर्श रूप की कल्पना करता है, अतएव सौन्दर्य की परिपाटी का एक ही नियम के बशानर्त्ती होना अस्वाभाविक है।

वस्तुओं को सुन्दर दर्शाने वाली मानसिक क्रिया में यदि कोई समतत्त्व है, तो केवल यह है कि वह सदा येयन्तिक रुचि के अनुसार आदर्श की कल्पना किया करती है। यदि किसी भौतिक पदार्थ में कल्पित आदर्श के कुछ भी चिह्न लक्षित हो जायें तो वह उसी को सुन्दर मान लेती है। कल्पित आदर्श एव लक्षित वस्तु में जितना निकट सम्बन्ध होगा उतनी ही सुन्दर वह प्रतीत होगी। वस्तुओं के सौन्दर्य की कक्षा इमी सिद्धान्त पर निर्भर है। ससार में अनेक रूपमान हैं, परन्तु कल्पित मूर्ति से तुलना करने पर जान पड़ता है कि कोई अधिक है, कोई न्यून। आदर्श में प्रत्येक अंग में सात्त्विक रंगने वाली वस्तु जगत् में असम्भव है। आदर्श एव वास्तविक के मध्य में, गहरे पृथक् करने वाला, एक अगम्य सागर सदा विराजमान रहेगा। यदि कोई सासारिक वस्तु आदर्श के तुल्य हो जाय तो आदर्श की महिमा ही नष्ट हो जाय। हमारा ध्येय अपरिमित तथा अव्यक्त है। हम अपने आदर्श में अलौकिक गुणों का समावेश देखते हैं। परन्तु पार्थिव

पदार्थ परिमित होने के कारण अतीतिक्रम नहीं हो सकते, अतएव आदर्श के साथ वास्तविक की तुलना करते समय चित्त में विषाद, दया अथवा वियोग का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। सायद्दाल तथा यौवन की छवि अल्पकालिक है, अतएव हमारे हृदय में इतना प्रतिभ्या का भाव उमड़ कर हमारे आकर्षित होने का मुख्य साधन बन जाता है। हिमाचल कल्पान्त पर्यन्त इसी रूप में रहेगा, परन्तु हमारा शरीर शीघ्र ही पञ्चतन्त्र को प्राप्त हो जायगा, इस प्रकार के निवार उमकी शोभा का द्विगुणित कर देते हैं। इस प्रकार उक्त तीनों दृश्य चित्त में एक अव्यक्त शोभा को जन्म देते हैं। प्रथम दो की क्षणभङ्गुरता पर हम दयार्द्र हो जाते हैं, पर तीसरी के दर्शन से हमें स्वयं अपनी अवस्था पर रोद होने लगता है।

हमारी सोन्दर्योपासना प्रवृत्ति अथवा सोन्दर्यानुराग का कारण जानना अत्र कठिन नहीं है। यदि कोई बालक याचक में सुन्दर तिलौना देख पाता है तो घर आकर माता पिता से उसे ला देने का आग्रह करता है। मान लीजिए कि उसका माता पिता वह तिलौना एक दिन पश्चात् देने की प्रतिज्ञा करते हैं। जब तक वह तिलौना बालक के पास न आजाय, तब तक उसे धैर्य नहीं होता। तिलौने के प्राप्त हो जाने पर बालक को जैसी हार्मिक प्रसन्नता होती है, ठीक उसी प्रकार का आनन्द हमें किसी सुन्दर वस्तु के मिल जाने में होता है। यदि वह सुन्दर वस्तु हम से मिलग हो जाय तो निमग्नता वश हमारे हृदय में वैसे ही वेदना होती है, जैसी बालक के हृदय में उमका तिलौना चलाने छिन जाने पर। इस अपार विश्व में क्या हम बालकों के समान नहीं हैं? मानम-

मन्दिर में प्रतिष्ठा पाने योग्य जो आदर्श हमने कल्पित कर रक्खा है, मूर्तिमान पाकर भी क्या हमें सुख न होगा ? अस्तु—

जिम प्रकार चालक सर्प की चमकती हुई देह से आकृष्ट हो कर नि शङ्क हो उसे पकड़ने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार हम समझते हैं कि सुन्दर वस्तुओं से हमें किसी प्रकार की हानि पहुँचनी असम्भव है। एक सुन्दर स्त्री अथवा पुरुष यदि कोई गुरुतर अपराध भी करे तो हम तुरन्त उसे क्षमा प्रदान करने को तत्पर हो जाते हैं। भगवान् विष्णु ने इसी सौन्दर्य से दान्यों को वशीभूत कर अमृत का घट छीन लिया था। कहना न होगा कि ससार के नारे मस्तिष्क युक्त प्राणी सौन्दर्योपासक हैं। नृत्य करता हुआ मयूर मयूरिनियों को उम प्रसार लुभा सकता है, जिस प्रकार मनुष्यों को। अपने हृदय के आराध्य देव को मूर्तिमान पाकर हम उसकी उपासना करते हैं, उससे प्रेम करते हैं, उसके सत्र अपराध क्षमा करते हैं, वस यही हमारी सौन्दर्योपासना है यही हमारा सचा सौन्दर्यानुराग है।

एक बात रह गई है। उसके बिना यह निग्रन्ध पूर्ण होता नहीं प्रतीत होता। अब तक हमने वस्तुओं के केवल बाह्य सौन्दर्य की व्याख्या की है। परन्तु वस्तुओं का आन्तरिक सौन्दर्य इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह ससार माया से परिपूर्ण है, अतएव यहाँ भी अनेक वस्तुओं का बहिरङ्ग उनके अन्तरङ्ग के अनुरूप नहीं। प्रकृति ने मणि-भूषित, सुचिक्कण देह वाले सर्प को त्रिपथर बनाया है। कठिन, कुरूप नारियल के गर्भ में मधुर गिरी उत्पन्न की है। अतएव प्रिय दर्शन वस्तु भी कभी-कभी हमारे लिये हानिप्रद सिद्ध हो जाती हैं। मनुष्य-मात्र

वा आन्तरिक सौन्दर्य हृदय की शुद्धता, पवित्रता एवं स्थिरता में है। रूप में सुन्दर न होने पर भी, हृदय का प्रकाश मनुष्य को एक अपर्यय सौन्दर्य-ज्योति में प्रालोम्बित कर देता है। यदि किसी सुन्दर चेहरे में पवित्र हृदय का निवास हो तो वहना ही क्या है। फिर तो तुलसी राम जी के शब्दों में—

सुन्दरता कहैं सुन्दर करई । छवि गृह दीप शिरा जनु बरई ॥

परन्तु हमके विपरीत वलुपित हृदय वाला मनुष्य सौन्दर्य-प्रकाश होने पर भी हमारी घृणा का पात्र होने के योग्य है। गोसाईं जी ने ठीक कहा है—

मां मर्लान सन सुन्दर कैसे । विपरम भरा बनक घट जैसे ॥

अतएव मनुष्य-जीवन में हृदयगत सौन्दर्य का होना परमावश्यक है। वाय सौन्दर्य उमका स्थापत्य हो सरता है, परन्तु आन्तरिक सौन्दर्य के अभाव की पूर्ति मात्र सुन्दरता द्वारा नहीं हो सकती। हमको वस्तुओं का ग्रहण अथवा परित्याग केवल उनके बाह्यरूप के ही अनुसार करना उचित नहीं है। हमारे ध्येय ऐसे उभ बनने चाहिये कि हमें सुन्दर वस्तुओं की ओर आकर्षित हो, परन्तु हमें भी परीक्षा करना पड़े कि वह न होगा। वाय सां, वह कर, हमको मंत्र

इक बार,  
हम रचे

## ग्रामों को लौट चलिये

इस समय हमारे देश के शिक्षित नवयुवका के सामने जो सब से जटिल प्रश्न उनके जीवन-समाम में प्रगिष्ट होने पर उपस्थित होता है, वह है उनकी जीविका क सम्बन्ध में । देश के किसानों की दुर्गति तो है ही, किन्तु साथ-साथ शिक्षित नवयुवकों की अवस्था तो और भी गौचनीय हो रही है । इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि जब इंग्लैण्ड जैसे सम्पन्न देश में भी बेकारी की समस्या दिनादिन बढ़ रही है, तो ऐसी हालत में हमारे देश में—जहाँ नौकरी क स्थान बहुत थोड़े हैं, और स्वदेशी उद्योग धन्ये झिलझिल नष्ट हो गए हैं—अथवा नारा को प्राप्त हो रहे हैं—यदि शिक्षित युवक नौकरी की तलाश में दर-दर मारे फिरते हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

आवश्यकता के लिए कोई नियम नहीं होता । आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के गर्भ में मोहान्ध हो कर हम जिस मार्ग का अग्र तर अनुसरण करते आये हैं, उसका परित्याग अग्र हमें करना ही पड़ेगा । जल्दी या देरी से इन्ध्या से अथवा अनिन्ध्या-पूर्वक, हमें अब उस स्थान की ही शरण लेनी पड़ेगी, जहाँ से हम आये हैं । अवस्था अब यहाँ तक पहुँच गई है कि इसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है । यदि हम ऐसा नहीं करते हैं, तो यह हमारा आत्म-प्रवर्धन के सिवा और कुछ नहीं है ।

धनी और दरिद्र दोनों ही के लिए अब नगर-जीवन अभिशाप-रूप सिद्ध हो रहा है। जिसे अब तक हम मोना समझते आ रहे थे, वह याम्य में सोना न होकर कोई और ही चीज थी, जिसके ऊपरी आडम्बर और बाहरी तड़क-भड़क से मुग्न होकर हम उसे अपने समस्त सुख साधन का भण्डार मान बैठे थे वही हमें अब जलकुल मारहीन, नीगस और कटु मान्य हो रहा है। हम अपने हृदय के भीतर यह अनुभव करने लगे हैं कि हमारे जीवन में शान्ति, मन्तोप और सुख सग के लिए विदा हो गए हैं। नगर-जीवन की फोलाहलमय अशान्ति, उग्र भोगपरायणता, असीम विषय तृष्णा, दुर्धर्म स्वार्थपरता, निरन्तर प्रतिद्वन्द्विता तथा हृदय के भीतर निरन्तर जलने वाली हाहाकार की लपटें नागरिक जीवन के असली स्वरूप को हमारी आँखों के सामने गढ़ा कर देती हैं। किन्तु नागरिक जीवन के इस स्वरूप का परिचय प्राप्त करके भी उसकी मोहकता हमें इतना अधा बनाये हुए है कि हम फिर भी उसी ओर आखें मूढ़ कर दोड़ते जाते हैं।

भारतीय सभ्यता का विकास ग्राम से हुआ था, और इन ग्राम से ही भारतीय जीवन की नींव मुट्ठ हुई थी। भारत का धर्म, कर्म, शिक्षा, साहित्य, ज्ञान आदि जो कुछ हम इस समय देख रहे हैं, इन सगों की सृष्टि और विकास ग्रामों में ही हुआ था। भारतीय ग्राम ही प्राचीन भारत की कर्मभूमि थी और इस कर्मभूमि से ही भारतवासियों को मनुष्यत्व की शिक्षा मिली थी, किन्तु जब से हम कर्मभूमि की उपेक्षा करके नगर को ही अपनी सुख-समृद्धि का एकमात्र साधन मान बैठे हैं तभी से हमारी ग़रब बढ़ रही है। विश्व-विद्यालय के उच्च शिक्षा पाये





हमारे विचार में हमारा एक मात्र उलान यही है कि नगरों का मोह छोड़ कर हम ग्रामों की शरण जावें और कृषि को अपनी जीविका का साधन बनावें।

यही एकमात्र उपाय है जिससे फल विरस गयी तथा कल्याण प्रप्त हो सकता है और अन्य जितनी व्यवस्थाएँ होंगी, जितने उपाय बताए जायंगे, वे कदापि ग्राह्य न हो सकते। उनका परिणाम क्षणिक और तात्कालिक होगा और वैमारी की यह पीमाग इतनी गहराई तक पहुँच गई है कि इससे निराशाजनक उपाय से काम चल ही नही सकता। हमारे बहुत से युवक मित्र इस पुरानी बात की पुनरावृत्ति अर्थात् ग्रामों में जाकर खेती करने की बात सुनकर हँस पड़ेंगे नाक-भौं मिराड़ेंगे। वे कहेंगे कि बार-बार एक ही पुराना राग अलापा जा रहा है, कोई नई बात नहीं बताई जाती, कोई नया उपाय नहीं सुझाया जाता, किन्तु क्या किया जाय, लाचारी है। राग जब प्रमाध्य हो चला है तो नया कैसे पकड़ी क्या न हो, उसे निगलना ही पड़ेगा। यह सच है कि हमारे शिक्षित नवयुवकों के लिए भारतीय ग्रामों में अब कोई आकर्षण नहीं रहा। ग्राम का मौन्दर्य, ग्राम की छटा अब उनके लिए माहक नहीं रहा। उनके मुख्य साधन के सामान्य अब ग्रामों में नहीं रहे। ग्राम्य-जीवन की कठिनाइयाँ भी कम नहीं हैं, परन्तु इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना मीनों नवयुवकों का ही काम है। यदि देश के युवक आगे बढ़कर शहरोँ और अमुबिवाधों को मेलते हुए ग्रामीण भाइयों का हाथ नहीं पकड़ेंगे उनके सुख दुःख के साथी नहीं बनेंगे, तो दूसरा कौन बनेगा? जो भारतीय किसी समय सुख श्री सम्पन्न थे, धनधान्य से परिपूर्ण थे, वे

आज श्मशान रूप में परिणत हो रहे हैं और उम श्मशान के चारों ओर से घेरे हुए नर कफाल के रूप में जो ग्रामवासी ढेर पड़त हैं उनके उद्धार के लिए यदि देश के शिचित्त युवक आकुल तथा आकांक्षा, नि स्वार्थ-सेवा एवं आपेशपूर्ण हृदय लेकर कर्मक्षेत्र में पदार्पण नहीं करेंगे, तो फिर और कौन करेगा ? ग्राम्यकुटीरों में रहने वाले स्त्री-पुरुषों के भग्नोत्साह एवं निराशामय जीवन में उत्साह तथा आशा का संचार कराने वाले देश के युवकों के सिवा और हमरा कौन है ? ग्रामवासियों के अन्वकारमय शून्य जीवन में आशा-प्रदीप प्रज्वलित करके उन्हें सन्मार्ग प्रदर्शित करने का काम युवकों के सिवा और कौन कर सकता है ? ग्रामवासियों के पराङ्कुटीरों से सदा के लिए जो गृहलक्ष्मी विदा हो गई है उसे फिर से लाकर स्थापित करने का काम युवकों के हाथ में ही हो सकता है । ग्रामों में रहकर हमें ग्राम्यजीवन को पहले के समान सुगम-शान्तिपूर्ण एवं स्वस्थ बनाना पड़ेगा । एक बार जाकर हम ग्रामवासियों के घीच रहने का प्रयत्न करेंगे और अपनी -चि को परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश करेंगे, तो क्रमशः हमारा जीवन उसका अभ्यस्त बनता जायगा, और ग्राम की शान्तिमयी परिस्थिति, प्राकृतिक मोन्दर्य सुगन्धर जलवायु और शुद्ध स्वास्थ्यप्रद भोजन हमारी रुचि तथा हमारी मनोवृत्ति में वह परिवर्तन कर देंगे, जिससे फिर हमारी दृष्टि में नगर जीवन की झूठी विलासप्रियता और उपरी तडक-भडक तिलकुल तुच्छ प्रतीत होने लगेगी ।

इस मन्वन्ध में एक बात और विचारणीय है । इस समय हमारे देश के किसानों की जैसी हालत है और कृषि की जैसी

किया जाय ।

इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करके हमारे देश के युवक नुस्खों से कृषि-कार्य को व्यवसायरूप में अपनाने के लिए तैयार हो जायेंगे, और इसके साथ-साथ उनका मानसिक सम्भार भी इस रूप में परिवर्तित हो जायगा कि उनके मन से विलासिता एवं बाह्याढम्यर का मिथ्या मोह सदा के लिए दूर हो जायगा । इस समय हमारे देश में 'ग्रामों की ओर लौट चलिए' (Back to the Village) की आवाज जो बुलन्द की जा रही है, वास्तव तक कारगर नहीं हो सकती, जब तक कि ग्राम्य जीवन व्यतीत करने के लिए हम देश में उपयुक्त शिक्षण प्रणाली के प्रसार नहीं करते ।

—महात्मा प्रसाद मिश्र

## ( ८ )

### कर्मवीर महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप के यहा अच्छा आन्तर मत्सर पाने पर निभीपण मानमिह चित्तौड के राजकुमार से बोले, 'राणा जो सिर में जो दर्द है उसकी ट्वा लेकर शीघ्र ही लौटूंगा।' निभीपण मानसिंह शीघ्र ही लौटा। हत्तीघाटी के मैदान ने इस सुयोग्य चिन्तितक का आवाहन किया। प्रताप भी अपनी फठिनाइयों का गहला पाठ पढ़ने के लिये इस रणक्षेत्र की ओर आगे बढ़ा। २०००० हजार साथी—लेकिन अन्त में आठ हजार ही बचे, शेष सब प्रताप को गुरुदक्षिणा में देने पड़े। घमामान युद्ध। प्राणों का बाजार पूरा गरम। भीषणता, और उसका सहा महत्त्व उसी समय समझ सक्त हो जब एक किमान की कुटी की शान्ति और सौम्यता से इन दृश्य की तुलना करा। मनुष्य की पाशविक शक्ति का पूरा नमूना, लेकिन, साथ ही ससार के उज्ज्वल गुणों का पूरा अज्ञान। मर रहे और मारे जा रहे हैं। एक पर एक दूट रहे हैं, शरीर ही ढाल का काम देत हैं। ढाल—लेकिन अन्त में कोमल तरलता देखकर उसका पानी और भी तरल हो जाता है। बर्झियाँ जरा सा भी अन्याय नहीं करतीं। इस यज्ञकुण्ड में, प्रताप। तुम अपनी जान की बार बार आहुति दे रहे हो। लेकिन तुम इस

तरह से टुटकारा नहीं पा सन्ते, तुम्ह ससार में रहकर ससार से  
 सग्राम करना है। मानसिंह 'बट—निभीपण त्वा लेकर प्रताप ने  
 सामने न आ सका। ओह! सलीम बचा है, छोड़ो प्रताप, उम  
 छोड़ा। आन, अब तम बेतरह फिर गया। तुम अबले ओर ये  
 मुगल सिपाही सफ़ा। तुम्हारा मुकुट इस समय तुम्हारा शत्रु  
 हो गया है। फेंक दो उस। अर फेंक दो उसे। लेकिन कितने  
 मारोग, एक, दो तीन-चरे, वे आने ही जाते हैं, अब भी फेंक  
 दो, फेंको भी। देश और जाति को, नहीं, ममार को, तुम्हारी  
 जान, तुम्हारे मोने क मुकुट से भी ज्यादा प्यारी है। नहीं फेंकोगे ?  
 अन्ध्रा राजपूत गीग। आगे उढो, तुम्हारा अधिपति मुक्त में जा  
 रहा है। उढो आगे, बचाओ, बचाओ। हों सदरी के भाला !  
 तुम हों, उढो। घम ठीक। भाला के सिर पर मुकुट है। मुगल  
 तलवारें भाला पर पडन लगीं। प्रताप को उन्होंने छाड़ दिया।  
 एक जान के प्रल दूसरी जान। भाला ने अपनी जान देकर  
 अधिर कीमती जान बचा ली। मृत-मर्त्य वह उठी। लेकिन,  
 चित्तौड़ की मृतम्रता देखी की प्याम न बुझी। अभी ता परीक्षा  
 आरम्भ ही हुई है प्रताप। एक किले के बाद दूसरा किला दो।  
 अब किले नहीं रहे तो जाओ पहाड़ों ओर जगला की राक  
 छाना। ते। मर मर हो गई, तो क्या हर्ज है? पत्ते कहीं नहीं  
 गये, जगल का सामा ओर मरु का कोई हाथ न परड लगा।  
 आज यन् तो चल वहाँ, घाम ही राटिया, लेकिन खाते ही मुगल  
 आ पहुच। लड़ते भिडते निकल चले। सोरे के रिश्ते नहों कोई  
 हज नहीं। अग्रे क लिय चट्टानें ओर बचा के लिए राँस व पालने  
 ही मही। अन्धरी गते, धक्की दुपहरियाँ जाडे का कडाका,

वर्षों की रिमकिमाइट, आत्मा की आग और परमात्मा की उदासीनता—साथिया का मरत जाना और सेनिकों का कम होते जाना, कठिन तपस्या और ऊठोर व्रत ! एक दिन नहीं और दो दिन भी नहीं, एक साथ पन्चीस वर्ष तक !

( २ )

यह कैसी चात्सर ? चित्तौड़ की राजकुमारी के हाथ से एक घन विलास चाम पात की राटी छीन ले गया । राजकुमारी चीख उठी । विलास के डर में नहीं भूख के डर से, राजकुमारी—और रोटी के लिए तरसे ! लेकिन प्रताप—यह क्या ? तुम्हारी आत्मा काँप क्या उठी ? लडनी की पेड़ना देर कर आर परिमार व कष्टों से ? शान्त हो आर ज़रा विचारो ! देखो, वह तुम्हारे शत्रु अपने गीमों में घी के दीपक जला रहे हैं । क्यों ? तुम्हारी हिम्मत टूटती हुई देखकर । इन दीपकों के घी और उत्ती के साथ, सच बताओ, तुम्हारा हृदय जला कि नहीं ? हाँ जला, अब इस जले पर नमक छिड़कने की जरूरत नहीं ।

( ३ )

हो चुपा ! बस, चित्तौड़ की पवित्र भूमि ! तुम्हें नमस्कार है । तुम्हें छोड़ता हूँ, लेकिन स्वतन्त्रता का पल्ला नहीं छोड़ता । जो था, सो मर इस देवी के अर्पण हो चुका । शरीर में जो हड्डियाँ नाकी हैं, वे भी अर्पण हो चुकीं । जननी जन्मभूमि अन्तिम दर्शन है । लो, आज्ञा दो ।

प्रताप, आगे बढ़ा ! तुम्हारी सच्ची माता तुम्हें बुला रही है । हरिश्चन्द्र अपनी दामता के कृतव्य में ज़र हट्ट से ज्यादा आगे

तरह से छुटकारा नहीं पा सन्त, तुम्हें ससार में रहकर ममार से सग्राम करना है। भागसिंह ! यह—विभीषण दवा लेकर प्रताप के सामने न आ सता। आह ! सलीम बच्चा है छोड़ो प्रताप, उसे छोड़ो ! आह, अब तुम जैतरह घिर गए ! तुम अकले, और ये मुगल सिपाही सरुडा ! तुम्हारा मुकुट इस समय तुम्हारा शत्रु हो गया है। फेंक दो उसे ! अर फेंक नो उमे ! लेकिन कितने माराग, एफ, ग तीन—अर, ने आत ही जात हैं अब भी फर दो, फेंको भी ! देश और जाति को, नहीं मसार को, तुम्हारी जान, तुम्हारा मोन क मुडुट मे भा ज्याण प्यारी है। नहीं फेंकोग ? अन्धा गजपूत जीरा ! आगे बढ़ा, तुम्हारा अधिपति मुस्त मे जा रहा है ! उठो आगे, बचाओ, उचाओ ! हों सदरी क भाला ! तुम हों, बढ़ो ! जम ठीक ! भाला के सिर पर मुडुट है ! मुगल तलवार माना पर पड़ने लगीं। प्रताप ने उन्होंने छाड़ लिया। एफ जान के उल दमरी जान ! भाला ने अपनी जान फेरकर अधिक कीमती जान बचा ली ! रक्त-नदी बह उठी ! लेकिन चित्ताड की स्वतन्त्रता दबी की प्यास न बुझी ! अभी नो परीक्षा आरम्भ ही हुई है प्रताप ! एक किले क था दूसरा किला ठो ! अब किले नहीं रहे ता जात्रा पहाड ओर जंगलो की राक छाना। तें ! रमद उल हो गई, नो क्या हर्ज है ? पत्ते कहीं नहीं गये जंगल का सामा और जेण का कोई हाथ न पकड लगा ! आज यहां तो फल बरों, घाम ही राटिया, लेकिन राने ही मुगल आ पहुंचे ! लड़ते मिडत निफल चलो ! सोने क रिझने नहीं कोई हज नहा उठो क लिय चट्टान ओर बच्चा के लिए बाँस क पालने ही मरी ! अन्धरी गने, धक्की दुपहरियों आडे का रुडाका,

प्यार करते थे और घोड़े चेतक ने उसके ऊपर अपनी जान न्योछावर कर दी। स्वतन्त्रता देवी को वह प्यारा था, और वह उसे प्यारी थी। चित्तौड़ का वह दुलारा था और चित्तौड़ की भूमि उसे दुलारी थी। उदार इतना कि जेगमे पकड़ी गई और सम्मान नहित वापिस भेज दी गई सेनापति करीदरा ने कसम खाई कि प्रताप के खून से मेरी तलवार नहायेगी, प्रताप ने सेनापति को पकड़ कर छोड़ दिया।

( ५ )

अन्तिम काल जान नहीं निकलती। लेकिन राणा जी, क्यों ? मुझे विश्वास नहीं कि मेरे बाद चित्तौड़ की स्वाधीनता कायम रह सके। क्यों ? राजकुमार दृढ़ न सही, मेराब के सोलह मरदार, राणा जी, कसम खाते हैं कि हम अपने खून से स्वतन्त्रता के उस बीज को जातूने घोसा, सींचेंगे। शान्ति हुई, ओर उसकी आत्मा शरीर से बाहर होकर स्वतन्त्रता देवी की पवित्र गोद में जा निराजी। प्रताप ! हमारे देश का प्रताप ! हमारी जाति का प्रताप ! दृढ़ता ओर उदारता का प्रताप ! तू नहीं है, केवल तेरा यश ओर कीर्ति है। अब तक यह देश है ओर अब तक ससार में दृढ़ता, उदारता, स्वतन्त्रता और तपस्या का आदर है, तब तक हम छुद्र प्राणी ही नहीं, सारा ससार तुम्हें आदर की दृष्टि से देखेगा। ससार क किसी भी देश में तू होता, तो तेरी पूजा होती, और तेरे नाम पर लोग अपने को न्योछावर करते। अमेरिका में होता, तो वाशिंगटन और इब्राहेम लिंकन से तेरी किसी तरह कम पूजा न होती। इंग्लैण्ड में होता तो वेलिंगटन और नेलसन को तेरे सामने मिर भूकाना पड़ता। स्काटलैण्ड में



घड़ गये थे, तब कहते हैं कि निराकार प्रभु ने आकर उनका हाथ पकड़ा था। मेवाड़ की भूमि भी तेरा पंर पकड़ रही है। स्व, उसका एक सपूत आगे बढ़ता है। भामाशाह ने पर धामता है। देश को मत छोड़, वह तुझे छोड़ने के लिए तैयार नहीं। भाग्य भी अभी तक तुझे छोड़े वा, लेकिन अब वह प्रार्थना करता है कि तू उसे मत छोड़। ले घन। २५००० हजार आत्मा डम घन से १२ वर्ष तक रहा सख्त। तरी तपस्या पूरी हो गई और देव स्वतन्त्रता देवी मय नरे पाम आरहो हैं। तर साम्र अगे तगी दृढ़ता तथा धीरता और उदारता के सामने उसका आत्मन डोल उठा है। देव, शान्ति से वह मुस्करा रही है। उमक हाथा में माला है और देव यह तरे गल में गिरती है।

( ४ )

महान पुरुष—निम्नन्हे महान पुरुष। भारतीय इतिहास के किम रम में इतनी चमक है? स्वतन्त्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी चन्मभूमि के लिए किसने इतनी तपस्या की? देशभक्त, लेकिन देश पर पेंदसान जिताने वाला नहीं, पूरा राजा लेकिन स्वयंशायरी नहा। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुआ तक ने माना। शत्रु से मिले भार्गवसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया। अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कर्ति गाता था। भील उसके इशारे के उन्टे थे। सरदार उम पर जाने न्योछावर करते थे। भामाशाह ने उमक पैरों पर सब कुछ रख दिया। विभीषण मानसिंह उससे नखर नहीं मिला सक्ता था। अकबर उसका लोहा मानता था। खानखाना उसकी तारीफ में पद्य-रचना करना पुण्य-कार्य समझता था। जानवर भी उमे

## हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशों के इतिहास में भिन्न भिन्न जातियों में पारस्परिक मर्घर्ष के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही संघर्ष में सभ्यता का विकास होता है। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति या दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल होता है, पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। दो जातियों में परस्पर मित्रता रहनी चाहिए। परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पड़ता है तब विवश होकर उन्हें कोई ऐसा सम्बन्ध-सूत्र रोजना पड़ता है जिससे उस मित्रता में भी एकता स्थापित हो जाए। यही सत्य का अन्वेषण है, बहु में एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जाति प्रेम की समस्या अधिक कठिन थी। योरोप में विभिन्न जातियों का सम्मिलन हुआ है उनमें इतनी प्रियमता नहीं थी। उनमें से अविनाश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जाति-गत विद्वेष और विरोध की मात्रा कम नहीं थी तो भी कदाचित् उनमें वर्ण-भेद नहीं था। यही कारण है कि इंग्लैण्ड में सेम्सन और नार्मन जातियों में इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यही है कि सभी पाश्चात्य

वालेस और राइट ब्रूस तेरे साथी होते । फ्रांस में जान 'आफ' आर्क तेरी टक्कर की गिनी जाती और इटली तुम्हें मेजिनी क मुफ्फाघले में रखती । लेकिन हम भारतीय निम्नल आत्माओं व पास हैं ही क्या, जिससे हम तेरी पूजा करें और तेर नाम की पवित्रता को अनुभव करें । एक भारतीय युवक आर्यों में आसु भरे हुए नेत्रों सहित अपने हृदय को गंगाता हुआ, लज्जा के साथ तेरी कीर्ति गा-नहीं रो-नहीं, कह भर लेने के सिवा और कर ही क्या सकता है ?

— गणेश नाकर विद्यार्थी

( ६ )

## हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशों के इतिहास में भिन्न भिन्न जातियों में पारस्परिक संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही संघर्ष से सभ्यता का विकास होता है। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति का दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल होता है, पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। वे जातियों में परस्पर मित्रता रहनी चाहिए। परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पड़ता है तब विवाद होकर उन्हें कोई ऐसा सम्बन्ध-सूत्र ढोजना पड़ता है जिससे उस मित्रता में भी एकता स्थापित हो जाए। यही सत्य का अन्वेषण है, जहाँ में एक और दृष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जाति प्रेम की समस्या अति कठिन थी। योग्य में जिन जातियों का सम्मिलन हुआ है उनमें इतनी विषमता नहीं थी। उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जाति-गत विद्वेष और विरोध की मात्रा कम नहीं थी तो भी कदाचित् उनमें वर्ण-भेद नहीं था। यही कारण है कि इंग्लैण्ड में सेक्सन और नार्मन जातियों में इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यही है कि सभी पाश्चात्य

केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की, किन्तु अपने धर्म के भी प्रचार किया। तभी हिन्दू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सत्र से अधिक प्रयत्न किया परी ने। परी ने देखा कि भारतवर्ष हिन्दू में और मुसलमानों का विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोट हिन्दू फोड तुरक कटावे पर जमा पर रहिए।

पट्टी मलादेर बनी मुहम्मद मला आदम फलि ॥

बेन कितान पढ़ें वे तुतथा मौलाग वे पाडे।

मिगत बिगत क नाम धरायो पर माटी के भाड ॥

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़ कर उन्हें एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों उसका विरोध करते थे। कबीर ने उनकी इस मूर्खता—इस अमान्यता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि में पड़ कर दोनों नष्ट हो जायेंगे।

साथो देखो जग धीराना।

साँच कहो तो मारन धारे भूडे जग पतियाना ॥

हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहिमाना।

आपस में दोड लरि लरि मूण मरम न काह जाना ॥

हिन्दू की दया महर तुस्कन की, दोनों घट मो त्यागी।

वे हलाल वे मदका मारे, आग दोइ घर लागी ॥

था विधि हंसत चलत हैं हम को आप कहावे स्थाना।

कहे कबीर सुनो भई साथो, इन में कौन दिवाना ॥

स्वदेश की कल्याण-कामना से प्रेरित हो कर कबीर उस पथ को खोज निकालना चाहते थे, जिस पर हिन्दू और मुसलमान

• दोनों चल कर आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू एक ओर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर ने उनको चेतावनी दी—

अरे इन दुहु राह न पाई ।

हिन्दू की हिन्दुवाई देखी तुरकन की तुरकाई ।

वहें कबीर मुनो भई सावो कोन राह हरे जाई ॥

इसीलिए कबीर ने हिन्दू की हिन्दुवाई और तुरक की तुरकाई दोनों को छोड़ दिया। उन्होंने केवल मनुष्यत्व को ग्रहण किया—

हिन्दू कहें तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं ।

उन्होंने दोनों को एक ही दृष्टि से देखा—

समदृष्टि सतगुरु किया भेटा भग्न बिचार ।

जहें देखों तहें एक ही भाहेत ना दीवार ॥

समदृष्टि तब जानिए सीतल समता होय ।

सब जीवन की आत्मा लरें एक मी सोय ॥

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। शमीर खुमरो ने इस एकता की नींव को दृढ़ किया। हिन्दी में कागज पत्र, शादी न्याह, रक्त पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक हैं। इसके बाद जायसी ने मुसलमानों को हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य का दर्शन कराया।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि ।

जामें मारग प्रेम का सने सराहै ताहि ॥

मलिक मुहम्मद जायसी कवि ही नहीं थे, साधक भी थे।

नितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी भाषा में रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू जाति। प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभा उनके अस्तरावट से मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रह कोई भी हमारे कर्म की श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है? यह नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणा का पात्र नहीं हैं।

तिन्ह मत्तति उपराजा भौतिहि भौति हुलीन ।

हिन्दू तुम्हें हुनड भए अपने अपने दीन ॥

जायसी ने जो शिक्षा दी है उनमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उन्होंने कहा है—

जस तन तम यह धरती जस मन तटस अमास ।

परम हम तेहि मानस जइस फूल मह धाम ॥

जो उनका दर्शन करना चाहत है उन्हें अपने हृदय को सदैव स्वच्छ रखना चाहिए—

तन दरपन कहँ साज दरमन गैया जो चहइ ।

मन सा लीजो भोज, महमद निर्मल होम किया ॥

उन्होंने एक ववाद की सदैव शिक्षा दी है—

एक कहत दुइ होय दुइ से राज न चल सकइ ।

धीच तँ आपहु रघोय महमद एगाम होइ रहइ ॥

मोग्य और मोस्ता में भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

सनड जगत दरपन कहँ खेरा ।

आपुहि दरपन आपहु खेरा ॥

आपुहि घन अउ आपु पगैरू,  
 आपुहि सउजा आप अहेरू ।  
 आपुहि पुहुप फूल-गति फूले,  
 आपुहि मवर नाम रस भूले ।  
 आपुहि फल आपुहि रसवारा,  
 आपुहि सो रस चारन हारा ।  
 आपुहि घट घट मह मुख चाहइ,  
 आपुहि आपन रूप सराहइ ।

आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लिखन हार ।

आपुहि लिखनी अरर आपुहि पडित अपार ॥

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान माधकों और फकीरा ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्विष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्य युग में एक नयी भारतीय कला की सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई। कृषक का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी। देश में नयी भाव का यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबर के राजत्वकाल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामन्त्री अबुलफजल ने एक



हिन्दू मन्दिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भाव यह है—हे ईश्वर सभी तेव मंदिरों में मनुष्य तुम्हीं को स्तुत करेगा सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं का पुकारते हैं । विश्व नरक तुम्हा हो । और मुसलमान-धर्म भी तुम्हीं हो । सभी धर्म एक ही बात कहते हैं । कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो । मुसलमान मसजिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिरजा घरों में तुम्हारे लिए घंटा बजाते हैं । एक दिन मैं मसजिद जाता हूँ और एक दिन गिरजा । पर मन्दिर-मन्दिर में मैं तुम्हीं को स्तुत हूँ । तुम्हारे शिष्या के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन अबुलफजल का यह उद्गार मध्ययुग का तबीन संदेश था—

हिन्दी में सूरदास और तुलसीदास ने स्वयं युग की इस भावना से प्रेरित हो मनुष्य जीवन में श्रेष्ठ आदर्श लिखलाया उसी भाव का प्रमाण कर मुसलमानों में रहीम ने कविता लिखी निम्नलिखित पद्यों से प्रकट हो जाता है कि रहीम ने हिन्दू भाव के कितना अपना लिया था—

अनुचित वचन न मानिए जदपि पुराइन गाडि । -  
 है रहीम रघुनाथ ते सुचस भरत हो बाडि ॥  
 कमला धिर न रहीम कहि, यह जानत सत्र कोय ।  
 पुरप पुरातन की बधू, त्यों न चबला होय ॥  
 गहि सरनागति राम की भयसागर की नार ।  
 रहिमन जगत धार कर और न बहू उपाय ॥  
 जो रहीम करिगो हुतो राज को डहै हवाल ।  
 ता काह कर पर बरघो गोवर्धन गोपाल ॥

मुगलों के शासन काल में हिन्दी साहित्य में जो श्री वृत्ति

हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राजभाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दी साहित्य की। उस समय वण्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध का हटाने की चेष्टा की। नितन ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गए। इनमें रसज्ञान की भक्ति ने हिन्दी में रस की धारा बहा दी है। उनका निम्नलिखित पद्य बड़ा प्रसिद्ध है—

मानुस हो तो यही रसगान बसों मिलि गाकुल गोप गुवारन ।  
जो पशु होऊँ रहा बसु मेरो चरों नित नद की वनु मभारन ॥  
पाहन हों तो यही गिरि को जु कियो बनज्यत्र पुरदर कारन ।  
जो रसग होऊँ वसेरो करों वही कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ॥

मुसलमानों के लिए यह प्रेम कम साहस का काम नहीं था।

तब का यह कथा समया उचित था—

' सुनौ दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम  
इसकी निकानी बदनामी भी सहूँगी मैं ।  
देव पूजा ठानी मैं निनाज हूँ भुलानी तब  
कलमा कुरान सार गुनत गहूँगी मैं ।  
श्यामला मलोना सिरनताज सिर कुलेदार,  
तेरे नेह टाग मैं निशच हूँ दहूँगी मैं ।

' नन्द के कुमार कुरान ताणी सूरत प,  
ताण नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वे रहूँगी मैं ॥

इसी प्रेम से प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियों ने हिन्दी-साहित्य का अपनी रचनाओं में अलंकृत किया है।

राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान जाति का विरोध

दूर नहीं हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का मद्द्गर्भ बरक  
 रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में गाना ने सत्य को ग्रहण करते में  
 सद्देव नहीं किया। इसी चिरतन सत्य के आधार पर—इसी  
 ऐश्वर्य मूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर—भारत ने अपनी  
 जातीयता की स्थापना की है। इसी जातीयता में सभी जातियाँ  
 अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इनमें सम्मिलित होने  
 के लिए हिन्दुओं ने अपना हिन्दुत्व नहीं छोड़ा और न मुसल  
 माना ने अपना धार्मिक और सामाजिक सम्प्रदाय परित्याग किया  
 परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्त समय के मन्दिर में हुआ, जहाँ  
 वायव्य आचार-व्यवहार और दृष्टिमात्र नाति भेद के बदन में मनु  
 जाति की एकता भिन्न नहीं होती। यह एकता कान्पनिक नहीं  
 है। यह हिंदू और मुसलमान के जीवन में अभी तक काम कर  
 रही है। मध्य मकुचित कर देने से ही इनमें परस्पर विरोध हो  
 है। ईश्वर में ही सभी विरोधों का मिलन होता है। इसीलिए  
 उसी को अपना लक्ष्य मानकर भारत ने अपनी जातीयता की  
 सृष्टि की है। यहाँ एक ओर समाज में आचारविचार की रचना  
 होती आई है और दूसरी ओर मनुष्य की एकता को लोग  
 स्वीकार करते आये हैं। एक ओर भिन्न-भिन्न वर्णों में एक ही  
 पक्ति में बैठ कर खाने पीने तक का निषेध किया गया है, और  
 दूसरी ओर 'आमवत् सर्वभूतेषु' की शिक्षा भी गई है। आधुनिक  
 युग में जाति भेद की जो समस्या उपस्थित हो गई है उससे संबंध  
 में रवीन्द्र यादव ने बिलकुल ठीक लिखा है कि आजकल जाति-  
 विद्वेष खूब बढ़ गया है। सभी जाति अपनी शक्ति के भय से  
 सम्मत्त हो निर्बल जातियों पर अत्याचार करने में मद्द्गर्भ नहीं

करती। अभी मनुष्यत्व का विचार उनके लिए उपहासास्पद है।  
 परन्तु जब जातीय स्वातंत्र्य, पर-जातिविद्वेष और स्वार्थ-मिद्धि का  
 धीमत्स रूप दृष्टिगोचर होने लगेगा तब मनुष्य यह समझेगा  
 कि मनुष्य की यथार्थ मुक्ति किसमें है। नर में नारायण का  
 उपलब्ध करने में ही उसकी मुक्ति है इसी में उसका क्याण  
 है। उसका लिए अधिक तर्क करने की आवश्यकता नहीं।

निदु मानिषु समान को अचरज का सां फहै।

हेरनार हेगा, रहिमा अपने आपत ॥३॥

—हरिवन्ध्र जोशी

ॐ उक्त लेख के परिशिष्ट रूप में कुछ भार मुसलमान कवियों के  
 नामादि दिये जाते हैं—

शेयकुतबन, १६ वीं सदी, मृगावती। उसमान १७ वीं सदी,  
 विद्यावती। सय्यद मुबारिकभली, १७वीं सदी निजामक, अलकशतक।  
 अब्दुलरहमान, १७वीं सदी यमकशतक। अलीमुहोब खॉ (पीतम),  
 १८वीं सदी, कटम-बलीसा। भाजम, १८वीं सदी, नार शिख और  
 षट् क्रतु। सय्यद गुजाम नबी (रसजीन), १८वीं सदी, रस प्रबोध,  
 अगदपण। स्त्री कवि 'शेख' भी प्रसिद्ध है। वर्तमान समय के अमीरअली  
 'अमीर' प्रसिद्ध कवि हैं।

—सम्पादक

( १० )

## समाज और साहित्य

इश्वर की सृष्टि विचित्रताओं में घिरी हुई है। जितना ही हम देखते जायें, हमका अन्वेषण करत जायें, उसकी छान-बीन करते जायें, उतनी ही नई-नई श्रृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायगी। कहीं एक छोटा सा बीज और कहीं उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष। दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, तनिक माचिए तो सही। एक छोटे से बीज का गर्म में क्या क्या भरा हुआ है। 'सम' नाम मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है। जो समय पार पत्र पुष्प, फल से संपन्न हो बस ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जैसे गीज से बसफी मद्य उत्पत्ति हुई थी। सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहल वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने-अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते, और अन्त में उस अवस्था का प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं। पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वहाँ उनका अन्त नहीं है। वे सृष्टि के काय-साधन में निरन्तर तपते हैं। मर कर भी वे जीत मरत चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छान-बीन में प्रवृत्त करता है और बतलाना है कि कैसे ससार की सब बातों की मूलमातिसूत्र रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से उनकी उत्पत्ति हुई और

इस प्रकार उनकी सकुलता बढ़ती गई। जैसे समाज की भूतात्मक अथवा जीवामक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप में घटत हैं, वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उत्पत्ति क्रम आदि को भी अपने अधीन रखने हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हम प्रसन्न होता है कि पहले मनुष्य अन्ध व जंगली अवस्था में थे। सृष्टि के आदिम सत्र आरम्भिक जीवन समान हो थे, पर सत्र ने एक नई उत्पत्ति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिम्मेदारी थी और विशेष प्रवृत्ति रही, उसपर उसकी उत्तेजा का अधिक प्रभाव पड़ा। अन्त में प्रवृत्ति देवी ने जेमा कार्य देखा, वसा ही फल भी लिया। जिसने जिस अवस्था से कार्य लिया, उसके उन्नी अवस्था की पुष्टि और वृद्धि हुई। मारा यह कि आवश्यकतानुसार उनके रहन सहन, भाव, विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था, वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नए विधान आ उपस्था हुए। नई आवश्यकताओं, नई चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है, तब मस्तिष्क का उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट लिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम अभ्यासस्थान में अभ्यासस्थानों का प्राप्ति होना है। अर्थात् ज्या-ज्या सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी सकुलता बढ़ती गई, त्यों त्यों अभ्यासस्थानों का साम्राज्य स्थापित होता गया। अभ्यासस्थान सामाजिक जीवन में

उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और धन के साथ-साथ दूसरे स्वतंत्र और अधिकार का भाव हो जाता है। यह भाव जिस जिस जाति में जितना हो अधिक पाया जाता है, उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस व्यवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास में नहीं हो सकती, अपना यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्यायनाश सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति वायु, पचभूतों के कार्य रूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का घनना गिराड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है, उसके सचित भंडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता निर्देशक कह सकते हैं। यह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिविम्ब बूला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी, वैसी ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट उता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है। वह सभ्यता की सीढ़ी में किस इंचे तक पहुँच सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को सुरक्षित रखना

है। पहले-पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्म-कांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़ कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृङ्खला हो जाती है, जिससे साहित्य का विशेष विशेष अङ्गों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास के लिए साहित्य को प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारा पर प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शक्तिप्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिए निरन्तर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का मारा समय अपनी रक्षा के उपायों को सोचने और उन्हीं का अवलम्बन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हें सासारिक बाता से अधिक ममता हो जाती है, और वे अपने जीवन का उद्देश्य सासारिक धर्म प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था हो, वहाँ आलस्य का प्रारम्भ होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया, तब फिर उसकी चिन्ता ही रहा रह जाती है? भारत-भूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकाण्ड क्रीडाक्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब शक्तियों का आगमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं? फिर इनकी चिन्ता यहाँ के



सप्राप्त दो भिन्न सभ्यताओं व सघर्षण में और भी तीव्र और दुःसमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था व अनुकूल ही न साहित्य उत्पन्न होकर समाज के सन्निष्क को प्रोत्साहित प्रतिक्रियमाण पड़ेगा, तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण पैदा पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अत्र विचारणीय बात यह है कि यह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, सजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुन्दर ढाँचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित मरस ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाए। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी भाषा में अभी तक घटा अभाव है। पर शुभ लक्षणों की ओर देखने में आ रहे हैं। यह बड़ा आशा होती है कि स्वातन्त्र्यदिनों से उसका बड़ा दिग्गई पड़ेगा जिससे जन-संघ की राखीयें गुलेगी, और भारतीय जीवन का प्रत्यक विभाग की आगे की उन्नति से जगमगा उठेगा।

मेरी थोड़ी देर के लिए की ओर दिलाना चाहता हूँ  
का प्रयत्न हो रहा है  
दिखाई नहीं देती  
जिसमें जो कुछ

और पद्य की  
थगों की पुष्टि  
से व्यवस्थित  
हो चुका  
जाता है,

वह अधिकांश अवस्था में मतभेद के कारण नहीं, बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात वा व्यतिरिक्त प्रान्तिक शब्दों के प्रयोग व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिए कोई मत सम्बन्धी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिए केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणा से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बाँटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें कोई मतभेद नहीं कि जो हिन्दी गद्य के लिए ग्रहण की गई है, वह दिल्ली और मेरठ प्रान्त की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रान्त की है, पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रान्तों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रान्तों के शब्दों का भी अभाव पूर्ति के निमित्त अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान में किसी वस्तु का भाव व्यक्त करने के लिए कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रान्त से, जहाँ उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्तःकरण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे।

और कहानियों का आधिपत्य है, नाटक, काव्य और महाकाव्य भी निम्न रहे हैं। नाटक ने हिन्दी साहित्य का अभी तक भली भाँति अपनाया ही नहीं। इन सब का क्या कारण है ? संस्कृत, यूनानी, लैटिन अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच—सब भाषाएँ अपने नाटक पर गौरव करती हैं। हिन्दी में इसका अभाव क्यों हुआ ? रामचरितमानस ऐसी पुस्तक इस्लामाबाद में क्या नहीं लिखी गई ? त्रिहारीलाल और मतिराम इत्यादि मूरदास और तुलसीदास का मार्ग छोड़कर शृङ्गार में क्यों डूब गए ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न साहित्य-पाठकों तथा समालोचकों के हृदय में उठा करते हैं, किन्तु इनके उत्तर अति कठिन हैं।

तथापि निचार-दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि कुछ स्थायी और कुछ अल्पकालिक शक्तियाँ समय-समय पर साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती हैं। इनमें मुख्य जाति, देश, काल तथा धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दशाएँ हैं। फिर विशिष्ट लेखक की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दशाएँ और उनके विचार और भाव हैं। जो कुछ तो परिस्थितियों पर निर्भर हैं और कुछ दैवी-संयोग या जीव-वैज्ञानिक घटना पर। उपर्युक्त शक्तियाँ लेखक के साहित्य-बल को एक निर्दिष्ट मार्ग पर चलाती हैं जिस पर वह अपने ढंग से कार्य किया करता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि काल के उपयुक्त न होने के कारण कितने ही महान् पुरुषों का कीर्तिजीज उठने ही नहीं पाता। संभव है कि यदि त्रिहारीलाल अथवा मतिराम तुलसीदास अथवा मूरदास के समकालीन होते तो हिन्दी में शृङ्गार रस की कविता का यह उच्च पद न होता जो इस समय है। उक्त कवि या तो इधर

चर शृङ्गार लिये भटवते फिरत अथवा राम या कृष्ण की भक्ति में पड़ कर बुद्ध स्वान्त सुखाय गा जाने । यदि तुलसीदास आजगल जन्म लिये होते तो सम्भव है कि एक छोटा मोटा आधुनिक पञ्चपात्र प्रियप्रसन्न जन्मा बना जान, किन्तु समाज को दंग कर देने वाले रामचरितमास का नाम भी न सुनाई देता । अथ उपर्युक्त पञ्चशक्तियों का प्रभाव एक एक से लेकर देखिये ।

‘ भिन्न भिन्न जातियाँ की कुछ अपनी विशेषताएँ हुआ परती हैं । आर्यों का शारीरिक स्वल्प, उन्हीं मानसिक बनावट और उनके भाव और चिन्तन कुछ और होता है । अपर द्राविड़ों का कुछ और । यूनानी कुछ और । इन में भारत तथा चीन निर्गुण करते थे । रोमन्म कुछ और ही दंग में । स्वी सभ्यता एक प्रकार की थी, तातार सभ्यता एक भिन्न ही प्रकार की थी । अंग्ला संस्कृत की गीतियाँ कुछ और थी, नार्मन्म की कुछ और । इस प्रकार की भिन्नता शताब्दियों के परस्पर मेल जोल, रहन सहन, गान पान, पियाह इत्यादि के कारण जातो रहती है और देश काल आदि के प्रभाव से इन विशेषताओं में परिवर्तन हुआ करता है, किन्तु ऐसा परिवर्तन अथवा भिन्नता का लोप उत ही धीरे धीरे होता है । भारतवर्ष का इतिहास आर्यों में प्रारम्भ होता है । आर्य लोगों में तार्किक विचार शक्ति का प्रारम्भ था इसी कारण से मारय, न्याय इत्यादि शास्त्रों की उत्पत्ति हुई । आर्यों के परचान शाक, यवन इत्यादि अनेक जातियाँ आईं, किन्तु उनकी मारया थोड़ी थी और वे लोग उमें देश के रहने वालों के साथ ऐसे मिल गए कि अपनी आत्म-विशेषता खो बैठे । यूनानी लोगों का प्रभाव भी बहुत कम रहा ।

आठवीं शताब्दी से मुसलमानों का आना शुरू हुआ। मुसलमानों में भिन्न भिन्न जातियाँ थीं। कुछ लोग अरबी थे। अरबों की सभ्यता सराहनीय थी। उनका पढ़ने लिखने तथा सीखने सिगाने का बड़ा शौक था। उनका भारत के साहित्य पर विशेष प्रभाव हुआ। अरब वालों व पश्चान् अन्य मुसलमान जातियों ने भारत पर आक्रमण किया। साहित्य पर उनका प्रभाव यही पड़ा कि अशान्ति के कारण अधिक साहित्य तैयार न हो सका। हा धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने कुछ प्रभावशाली साहित्य की उत्पत्ति अग्रय की। परन्तु जब मुगल आए तो इनकी बात और थी। इनमें फारस और तातार व रक्त मिले होने से बहुत सी विशेषताएँ आ गई थीं। फिर हिन्दू रक्त भी मिला। एक तो मुगल उत्तर चित्त थे, इनकी उदारता ने हिन्दी साहित्य को बड़ी उन्नति दी। दूसरी विशेषता इनकी यह थी कि इनकी सजीव शिल्प, तथा चित्रकारी गृहनिर्माण का बड़ा शौक था। हिन्दी साहित्य पर इनके गुणों का बड़ा प्रभाव पड़ा। शृङ्गार रस की अधिकांश कविता इन्हीं के समय में रची गई। इस सम्बन्ध में एक और बात का ध्यान रखना चाहिये। हिन्दू मस्तिष्क ज्ञान, विद्या तथा सिद्धान्त की ओर अधिक ढलता है, मुसलमान मस्तिष्क का व्यवहार की ओर अधिक मुकाम रहता है वह भाव की अपेक्षा बाहरी तडक-भडक की ओर अधिक ध्यान देता है। मुसलमान मस्तिष्क की इस प्रवृत्ति ने उस समय के साहित्य को भी बहुत प्रभावित किया है। कहा सूरदास और तुलसीदास की सीरी सादी भाषा जिसमें से भाषों का आधिक्य फूट निकलता है। और कहा बिहारीलाल की चमचमाती मजी सजाई भाषा। बिहारी

ने तो खैर भाव भी रखा, किंतु इनके पश्चात् के बहुत कवियों ने केवल भाषा की रंगीनी ही दिग्गलाई है। तुलसी, सूर को छोड़ कर शृङ्गार के कवियों में भी यही देख पड़ता है। विद्यापति की कविता देखिये—

“सरि हे की पृथसि अनुभव मोय ।

मोइ पिरिति अनुराग दखानइत तिल तिल नतन होय ॥

जनम अवधि हम रूप निहारत नयन न तिरपित भेल ।

मोइ मधुर बोल अवनहिं सून लों श्रुति पथे परस न बेल ॥

मुख्य भाव किम सुन्दरता से दर्शाया है। इसके सामने यदि

“देव इत्यादि की कविता देखिये तो शब्दों की रंगीनी, भाषा का बनाव शृङ्गार, इधर उधर का सौन्दर्य साफ बतला देता है कि पिछली कविता किस समय में लिखी गई होगी। देव का केवल एक ही पद देखिये—“रगराती हरी हृदराती लता झुकि जाति समीर के झूकन सो”। मुगल राज्य में मुगलों के कला-प्रेम और हिन्दुओं के ज्ञान-विज्ञान का अन्ध्रा संयोग हुआ और कलाओं की वृद्धि हुई—। काव्य कला ने भी उस समय बड़ी उन्नति की।

मुसलमानों का अपने धर्म और समाज की ओर तो विशेष ध्यान जाता है, किन्तु देश और मातृभूमि की ओर वे कम ध्यान देते हैं। मुसलमानी समय के हिन्दी साहित्य में देशीयता तथा मातृभूमि अभिमान के अभाव का एक यह भी कारण था। समकालीन एलिजबेथन अंग्रेजी साहित्य में चारों ओर देशाभिमान दीख पड़ता है।

मुसलमानों के पश्चात् कोई जाति ऐसी नहीं आई जिसने भारत में अपना निवास-स्थान बना लिया हो। युरोपीय जातिया

आइ और इन्होंने राज्य में स्थापित किया, तथापि इन लोगों ने यहाँ के निवासियों के जीवन में अपना जीवन नहीं मिलाया। इस जाति के जीवन में ये तीन मुख्य विशेषताएँ पाई जाती हैं जिन्होंने अपना प्रभाव हिन्दी पर डाला है। इनकी सभ्यता का प्रथम आधार विज्ञान है। ज्ञानिक विचारों का एक फल गण है। अतएव वर्तमान काल में गण ही प्रधान है। दूसरी यान्त्रिक योग्यता यह है कि यह जाति स्वतन्त्रता प्रिय है। शारीरिक और राजनतिक स्वतन्त्रता इनका यहाँ का मुख्य उद्देश्य है। अतएव वर्तमान हिन्दी साहित्य में राजनतिक बातों का और स्वतन्त्रता का अधिक उल्लेख है।

साहित्य का स्वरूप देश पर भी बहुत कुछ निर्भर है। देश में तात्पर्य यहाँ की भौगोलिक स्थितियाँ, जलवायु, पेगमार और जीवन निर्वाह के माधन से है। हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में अलंकार अधिक होने का मुख्य कारण यही है कि भारत की स्वाभाविक मधुरता, प्रकृति की सर्वाङ्ग-सुन्दरता और शान्तिमय जीवन—सब ने मिलकर भाव, भाषा और रहस्य-महान सब को आभूषित कर दिया है। अतएव महाराष्ट्र मरुभूमि में इस प्रकार का साहित्य न तो उत्पन्न हो सकता है और न उसकी वृद्धि हो सकती है। यहाँ के कसीदों में मरुभूमि का वर्णन रहता है। अतएव अरबी साहित्य में नाटक तथा यहाँ की तरह शृङ्गार इत्यादि रस की कविता का अभाव है।

देश के अतिरिक्त काल का विशेष प्रभाव पड़ता है। काल से तात्पर्य जाति, देश और सभ्यता का संयोग है। जैसे वैदिक-काल। साहित्य पर काल ने भी अपना पूरा असर डाला है।

वैदिक युग, पौराणिक युग तथा स्मृतिकाल की अपनी अपनी निशपताएँ प्रत्यक्ष हैं। वर्तमान काल के इतिहास में भी यह प्रभाव प्रमट है। १६वीं शताब्दी का अमेजो साहित्य १६वाँ और १७वीं शताब्दी का यूरोपीय साहित्य, मध्यकाल का इटलियन साहित्य तथा प्राचीन काल का यूनानी साहित्य—सभी एक एक विशेष काल की सूचना देते हैं। कानन साहित्य को एक मार्ग बतलाया और साहित्य ने उस काल का चित्र उतारा।

जाति, देश और काल के संयोग से एक प्रकार का निर्विष्ट जीवन, व्यक्तिगत तथा सामाजिक, नेपार होता है। जैसे बहिरु भारत में आर्यों का जीवन, मुगल भारत में हिन्दू-मुसलमानों का जीवन, द्यूडर इंग्लैंड में अग्रजों का जीवन एक निशप रूप का था जिसका परिचय उस समय की दशाओं से मिलता है। इस प्रकार का परिचय साहित्य समझने के लिये अति आवश्यक है। तुलसीदास के समय का भारत कैसा था ? राजा और प्रजा का परस्पर सम्बन्ध और व्यवहार किस प्रकार का था ? लोग उनका कैसा सम्मान करते थे ? और अस्सी घाट पर घेरे घेरे वे कैसी बातें सोचा करते थे ? इन सब का ज्ञान आवश्यक तथा रस-पूर्ण है। कवि लोग कविता कथ और कैसे बनाया करते थे ? उनके विचारों पर किन किन बातों का प्रभाव पड़ा करता था ? उन्हें किस बात की अधिक चिन्ता रहा करती थी ? उनके जीवन का उद्देश्य क्या था ? वे कैसा जीवन व्यतीत करते थे ? और उन्हें कसी कसी कठिनाइयाँ, क्लेशनी पड़ती थीं—इन सब ज्ञान साहित्य का स्वरूप, और समझने



अत्यावश्यक है। दूसरी ओर साहित्य पढ़ने से तत्कालीन जीवन का भी बहुत कुछ पता मिलता है। साहित्य एक प्रकार का दर्पण है जिसमें किसी समय का मनुष्य जीवन प्रतिबिम्बित होता है। भारत में राजपूतों का समय, मुलतानों का काल, मुगलों का जमाना, भारत के अधःपतन का काल, मरहटों और सिक्खों की जाग्रति पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—भयंकर कुछ साहित्य रूपी दर्पण में प्रत्यक्ष दीप्त पड़ता है।

निर्दिष्ट-जीवन की तीन मुख्य धाराएँ होती हैं—धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक। इनका साहित्य में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह सार्वत्रिक इतिहास में प्रकट है। भारत की धार्मिक सामाजिक और राजनैतिक घातों पर ध्यान देकर हिन्दी की कुछ प्रसिद्ध काल विभागों की विस्तृत धाराएँ अध्ययन की जा सकती हैं। यों तो इन धाराओं को पृथक् करना न केवल असम्भव है बल्कि अनुचित भी है, क्योंकि एक काल की धाराओं का पहले और पिछले काल की धाराओं से अटूट सम्बन्ध है, फिर भी समझने के लिये उनको अलग अलग करना आवश्यक है।

हिन्दी की उत्पत्ति प्राकृतिक भाषा से जान पड़ती है और आरम्भिक हिन्दी में प्राकृत मिश्रित भी है। किन्तु समय में हिन्दी का जन्म हुआ निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनुमान से यही सिद्ध होता है कि ७वीं शताब्दी से उसकी उत्पत्ति माननी चाहिए। तब से लेकर आज तक हिन्दी साहित्य का इतिहास ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आरम्भ से लेकर सूरदास के पहले तक, अर्थात् ७वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक। इस काल के फिर तीन

विभाग हो सकते हैं—(क) आरम्भ से चन्दवरदाई और जल्हण तक, अर्थात् ७वीं शताब्दी से १०वीं शताब्दी के अन्त तक, (ख) जल्हण के बाद से कनीरदाम के पहले तक, अर्थात् १३वीं, १४वीं शताब्दी, (ग) कनीरदास से लेकर मूरदाम के पहले तक अर्थात् १५वीं शताब्दी।

(२) सूरदास से लेकर तुलसीदास और केशवदाम तक, अर्थात् १६वीं शताब्दी और १७वीं शताब्दी का आदि भाग। इस काल के दो विभाग हो सकते हैं—(क) सूरदास से लेकर तुलसीदास के पहले तक, अर्थात् १६वीं शताब्दी का अधिकांश भाग, (ख) तुलसीदास का समय अर्थात् १६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग और १७वीं का आदि भाग।

(३) तुलसीदास के बाद से लल्लूलाल जी के पहले तक, अर्थात् १७वीं शताब्दी के आदि भाग के बाद से १८वीं शताब्दी तक। इस काल के दो विभाग हो सकते हैं—(क) तुलसीदास के बाद से देव तक, अर्थात् १७वीं शताब्दी के आदि भाग के बाद से १८वीं शताब्दी के मध्य तक, (ख) देव के बाद से लल्लूलाल जी के पहले तक, अर्थात् १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भाग।

(४) लल्लूलाल जी से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक, अर्थात् १९वीं शताब्दी का लगभग दो तिहाई भाग।

(५) वर्तमान समय, हरिश्चन्द्र से लेकर वर्तमान समय तक।

प्रथम काल में पहले राजनैतिक दशा पर ध्यान देना चाहिये।

महाराज हर्ष के बाद भारत में छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए और राजपूतों का समय आया। ये बहादुर योद्धा थे और छोटे छोटे

राज्य होते थे। अतः उस समय का साहित्य

अधिकतर दरबार के भाटों का बनाया हुआ है और उसमें अधिकतर राज्यप्रशंसा का प्रशंसात्मक वर्णन पाया जाता है, जैसे चन्द बरनाई और शाहगुजर इत्यादि की रचनाओं में। उसका बाद भारतवर्ष में एक प्रकार का धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हुआ, जिसमें एक ईश्वर की भक्ति, आइड्यल्स के त्याग और समाज के सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया गया। अतः उस समय का साहित्य इन बातों से भरा पड़ा है। जैसा कि कबीरदास, रैदास और नानक इत्यादि की रचनाओं से स्पष्ट है। ये लोग अपने मत का प्रचार करते थे, इसलिये इनको जनता की भाषा में रचना करनी पड़ी। इससे इनकी भाषा सरल और स्वाभाविक है और उसमें तत्कालीन समाज की तीव्र आलोचना है।

दूसरे काल में एक नये ढंग का धार्मिक आन्दोलन हुआ अर्थात् वैष्णव मत का प्रचार। इस मत की कई शाखाएँ हैं। इसमें कृष्ण और राम की भक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। कृष्ण की भक्ति बहुत अधिक प्रचारमय हो जाती है। अतः इस समय के साहित्य में यही बातें मिलती हैं। सूरदास और तुलसीदास आदि बड़े बड़े महात्माओं ने इस काल में कविता की और हिन्दी साहित्य को भक्ति काव्य से गौरवान्वित किया, इस समय में एक ओर तो बड़े-बड़े ऋषियों और भक्तों ने कविता की दूसरी ओर मुगल दरबार के कवियों ने। उस समय तक अकबर ने भारत में एक प्रकार की राजनेतिक शान्ति पैदा कर दी थी।

तीसरे काल में कुछ धार्मिक विचारों में शिथिलता आई। जहाँगीर और शाहजहाँ का जमाना आया। चारों ओर कलाओं की

वृद्धि हुई, लोगों का ध्यान सोन्दर्य और शृङ्गार की ओर अधिक रहा। अतः इस समय में काव्य कला की वृद्धि हुई। शृङ्गार रस का काव्य परमोत्कृष्टता को पहुँचा। भाषा भली भौति श्रुति-मधुर और अलंकृत हो गई। इस काल में विहारीलाल मतिराम और ऐन इत्यादि कवि हुए। इसी बीच में फिर राजनतिक अशान्ति का समय आया। शुरू में महाराज शिवाजी और छत्रमाल ने हिन्दू-पुनरुत्थान का झण्डा ऊँचा किया और बड़ी धीरता दिगलाई। इसमें उजड़ से हिन्दी साहित्य में धीर रस की उत्कृष्ट कविता निकली और भूपण इत्यादि कवि हुए किन्तु थोड़े दिनों में धीरता और जातीयता जाती रही अतः शृङ्गार रस को पूरी स्वतन्त्रता मिल गई। न तो धार्मिक गुरु ही गृही और न समाज की उच्च दशा का दयावर्ती रहा। अतः कवि ने साहित्य में रस मनमाना शृङ्गार भर और नायिका-भेद, नय शिर इत्यादि के अगण्य ग्रन्थ लिखे। इस समय के कवि भाषा तो खूब मजा मके, किन्तु वे भाव कहाँ से लाते, परिस्थिति उच्च भावों की न थी। इस समय के कवियों में दास, ठाकुर, घोषा इत्यादि हैं। तीसरे काल की एक विशेषता यह भी रही कि बहुत से राजा महाराजा स्वयं कविता करते थे और अन्य कवियों को आश्रय देते थे, इससे इस काल में बहुत से कवि हुए।

चौथे काल में पाश्चात्य सभ्यता ने अपना प्रभाव डाला। नए नए विचार आने लगे। जीवन के आदर्शों में परिवर्तन होने लगा। बुद्ध रहन सहन का ढंग बदला, शिक्षा की प्रथा उदलने लगी। इससे साहित्य में भी परिवर्तन हुआ और साहित्य की दो धाराएँ हो गईं। एक पुरानी और एक नई, किन्तु अभी पुरानी

रचयिताओं के सम्बन्ध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं, बहुतों की जीवनी का कुछ पता ही नहीं। इसका क्षेत्र कुछ सङ्कुचित है, इसमें सब विषयों का भली भाँति वर्णन नहीं हुआ है, विशेषतः सांसारिक वस्तुओं या व्यापार का वर्णन कम आया है, फिर भी वर्तमान समय में उम्मेद कमियाँ पूरा हो रही हैं।

हिन्दी साहित्य में बहुत सी आशाएँ की जा सकती हैं। वर्तमान समय में हिन्दी का बहुत सारा प्रचार हो रहा है यहाँ तक कि थोड़े-थोड़े देशों में भी इसका पठन-पाठन होने लगा है। इस समय जब चारों ओर वस्तुमान बढ़ा जा रहा है और हानि लाभ का काम केवल सांसारिक जीवन ही पर निर्भर है, एक ऐसे जल की आपश्मयना है जो मनुष्य के भविष्य को वस्तु-वादी से फेर कर अध्यात्मवाद की ओर लाने जाय और सामाजिक जीवन से उच्चतर जीवन का दृश्य दिखलाये, किन्तु साथ ही साथ अध्यात्मवाद को नीरस न बनाये, और उसे पूर्णरूपीति से लोकप्रिय बनाए रखे। यह सब हिन्दी साहित्य सफलता के साथ कर सकता है, कर रहा है और करेगा। हिन्दी-साहित्य अपने विषय, भाषा तथा छन्द के कारण पढ़ने सुनने और समझने में ऐसा सरस हो गया है कि इसमें पठन-पाठन में जीवन आनन्दमय हो जाता है। हिन्दी साहित्य मनुष्य-जीवन का रम्य चित्रण बनात हुए उद्योग पर ले चलने की पूरी शक्ति रखता है और आजकल विश्व में इसकी आवश्यकता है।

## आधुनिक शिक्षा-प्रणाली

याजस्त की जिज्ञा के सम्बन्ध में यदि किसी को अपनी सम्मति निश्चित करनी हो तो उसे चाहिए कि शाम को जागर कालेज के नययुवकों के झुण्ड में एक घुम पड़े। यदि वह दूता है तो जाते ही नई रोशनी वाले नोजवान लाग उसे बेरुज्ज नताना शुरू कर देंगे और अगर कहीं वह अपनी अवस्था का हुआ तर भी वे लाग उत्कर्षा त्मी उडाण बिना न रहेंगे। सौभाग्य वश यदि कहीं यह प्रातिव्य प्राप्त करने का अस्मर न मिले तो आप छिपे ही छिपे उनके पीछे चलत रहे तो आप को इनके विनाश तथा रुचि का भी नमूना मिल जायगा। आपस में ऐसे ऐसे मर्द मजाक होंगे कि आप दङ्ग रह जायेंगे, आप माचन नही नचमुच देश के नययुवक क्या इसी प्रकार की जिज्ञा नमार और जाति की सेवा करने जा रहे हैं? इनका कहना भी नहीं कि इन विगाधियों का जीवन बहुत सुखी और स्वास्थ्यपूर्ण है और मारे आह्ला के उन्हें और कुछ सुख है नहीं। यदि आप उनके सुगमरदन के और कुछ उनके तो कान्तिहीन पीले-पीले चेहरे देखेंगे, उनके शरीर बरसात के मेढका की भांति पीला, इनके लहरे से और अन्धरी मानसिक।

सरकारी नोकरिया कुल मिला कर मुम्बिल से इतनी हैं कि सैकड़ों पीछे एक आदमी को जगह मिल सकें। म्मर्गोयस्वामी अद्वानन्तजी से किमी ने कहा था कि शिक्षित लोगो में इतनी बेकारी वैसे ही बढ़ रही है, आपके स्नातक गुम्बिल से निकल कर क्या करेंगे ? उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे विद्यार्थी क्या सरकारी नोकरी के लिए थोड़े ही लालायित हैं ? इस नष्टि स गुम्बिलों ने देश का बड़ा उपकार किया है, क्योंकि वहाँ में लौट कर नययुक्त अपने वृत्ते पर कुछ न कुछ करते ही हैं, नौकरी के पीछे तो भारे-भारे नहीं फिरते।

यह हाल ता हमारे शिक्षित युवका का अभी हो रहा है जब देश में पढ़े-लिखों की सरया ५ प्रति सक्ता में भी कम है, कहीं जापान जववा अमेरिका की भांति देश का प्र प्रेक स्त्री पुरुष शिक्षित होता तो न जाने क्या हो जाता ? इस सम्बन्ध में अमेरिका वालों का काम हमारे लिए अनुकरणीय है। यहा डिप्राधारी लोग भी गेतों में अपने हाथों से काम करने में नहीं शरमाते। ओर शरमा क्यों ? वहा तो पेना कराने वाले ही लखपति ओर प्रोडपति हैं। ठीक इस का उलटा भारतवर्ष में है, जहा बेचारे किसान जानवरों की तरह गाड़े पसीने की कमाई करने पर भी भरपेट खाने को नहीं पात । दूसरी बात यह है कि हमारा शिक्षा विलकुल एकाङ्गी है। देश के पढ़े-लिखे बेचारे शहरों और मूस बन जाते हैं और उधर शहरों के रहने वालों के गेहूँ के पेड़ पहचानने में भी कठिनता होती है। देश तथा शहर वालों में परस्पर कोई भी महानुभूति नहीं। और हो भी क

— " ————— की ना नहीं है।

इंग्लैण्ड आदि देशों में ऐसे फाट तथा सोसाइटीया स्थापित हैं, जिनका मुख्य काम लन्दन ऐसे बड़े शहरों के जालक-बालिकाओं को देहात का पूरा ज्ञान करा देना है, किन्तु अपने देश के अध्यापक सिवा लड़कों को ठीक पढ़ कर पाठ याद करा देने के और कुछ जानते ही नहीं। किया भी क्या जाय ? यहाँ तो शिक्षा का ध्येय ही घोट घाट कर परीक्षाएँ पास कर लेना है। एक अङ्गरज सज्जन ने, जो बहुत दिनों तक भारत के स्कूलों में शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर रहे थे, इस देश की शिक्षा पद्धति पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसमें आपने प्राचीन गुरुओं के आदर्शों का उल्लेख करते हुए आजकल के अध्यापकों की दुर्दशा का वर्णन किया है। उनके कार्यों के विषय में आप कहते हैं—

“आजकल के अध्यापक नियमों के जाल में घिरे हुए ‘कोड़’ सामने रख कर पढ़ाते हैं। बच्चों को समय समय पर रिपोर्ट भेजना, नियमों के अनुसार चलना और ऐसे इम्तहान लेना रहता है, जिनमें सेरुडा पीछे कुछ सख्या का पास होना बाध्य है। और इन सब पर तुरा यह कि अकाल अथवा ताऊन से भी अधिक नियमित रूप से एक इन्स्पेक्टर साहब भी आते हैं। वे दस पाँच मिनट के निरीक्षण से ही तुरन्त जान लेते हैं कि हा, कोई नियम भङ्ग नहीं हुआ है और कुछ न कुछ काम की बात ही पढ़ाई गई है।”

शिक्षा पद्धति की मेशीनरी के इस वास्तविक विवरण के मध्यान् आप ठीक ही कहते हैं कि—

“दस शिक्षा पद्धति में थिङ्ग, अरनाल्ड अथवा सेण्डर्सन ऐसे



लोगों का होना कल्पना में भी अमम्भव है। इसलिए भारतवर्ष में शङ्कर, कबीर अथवा टेंगोर ऐसे विद्वानों की सृष्टि नहीं हो सकती। ऐसी शिक्षा में दिग्गमयी लोग ही तैयार किए जाते हैं जो कायदे काठन के अतिरिक्त इन्स्पेक्टरों की व्यक्तिगत भक्त तथा सनक में परिचित रहते हैं और जिनके लिए विद्यार्थी बेचारे जीवित प्राणी नहीं, सेन्डे की गिनती पूरी करने के लिए सरया मात्र का काम करते हैं।

लगभग ने आधुनिक स्कूलों का कैसा मसा चित्र खींचा है। इस प्रणाली के प्रवर्तक लॉर्डे मकाले ने भारतवर्ष का जो अनिष्ट किया है वह इस देश पर चढ़ाई करने वाली किमी मेना ने नहीं। सन १८५४ के शिक्षा सम्मेली डिम्पच में ही उस वूटनीतिज्ञ ने ऐसी प्रणाली के परिणामों की कल्पना कर ली थी। उसने स्पष्ट लिखा था कि हमें अब ऐसे शिक्षित भारतीयों की आवश्यकता है, जो रूप-रंग में हिन्दुस्तानी पर दिल व दिमाग में पूरे अंगरेज हों। फल इसका यह हुआ कि आज हम लोग न तो हिन्दुस्तानी ही रहे और न पूरे अंगरेज हो न पाए। जहाँ हम में परतन्त्रता-पीडित जाति के सभी दुर्गुण आ गए हैं वहाँ हमने अपने भाव-विधाताओं के केवल बाह्य-आदर्शों की ही नकल करना सीखा है। यात यह है कि गुलामी की रेडी में जकड़ी हुई जाति का दृष्टिकोण ही जन्म जाता है, न तो उसमें अपने देश की परिपाटी का ध्यान रह जाता है और न अपने धर्म की परवा। यही हाल भारतवर्ष का भी हुआ। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने में ऊपर ऊपर अंगरेजी स्कूल स्थापित होने लग, तो इनके सचालकों का उद्देश्य लार्ड मकाले के निर्देश किए हुए मार्ग पर

चलना मात्र था। इनमें अधिकांश संस्थाएँ तो पादरियों की देख-रेख में थीं, जिनका मुख्य ध्येय अपने धर्म का प्रचार करना था। देश में आज भी कितने ही मिशन-स्कूल हैं, जिनमें वाइसल पढ़ना तथा ईसाई प्रार्थनाओं में उपस्थित होना सत्र के लिए आवश्यक रहता है—चाहे वे हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, अथवा पारसी कोई भी हों। धार्मिक कट्टरता का यह अङ्ग अङ्गरेजों और ईसाइयों में सराहनीय है, पर हमारी हिन्दू संस्थाओं का क्या हाल है? यहाँ तो धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन होता ही नहीं। हाँ, प्रार्थना की रसम भले ही अदा हो जाती है, उसमें भी न कोई पद्धति रहती है और न सब लोग उपस्थित ही रहने की परवा करते हैं। अध्यापक स्वयं उसकी हसी उड़ाते हैं और विद्यार्थी तो बेगार समझकर उसमें जाते ही नहीं।

धार्मिक-शिक्षा को हम लोगों ने आकर्षक बनाना सीखा ही नहीं है। इसीलिए या तो वह होती ही नहीं या जहाँ होती है, पाण्डित्य पूर्ण उपदेश का रूप धारण कर लेती है। इस विषय में हमें पादरियों से बहुत-बहुत सीखना है, क्योंकि उनमें रहन-सहन की उदारता तथा धार्मिक कट्टरता का अद्भुत समावेश पाया जाता है। ठीक इसका उलटा हमारे समाज का हाल है—हमारे पढ़े लिखे लोग या तो नितान्त पुराने ढर्रे के कट्टर होते हैं अथवा पूरे निरीश्वरवादी साहब। पहली श्रेणी वालों की एक तो सच्चा बहुत कम है, दूसरे दिन दिन उसकी आवश्यकता भी कम होती जा रही है। बीसवीं शताब्दी के लिए तो ये लोग एक दम अनुपयुक्त सिद्ध हो चुके हैं और इसीलिए अपनी अर्वाचीन शिक्षा से कुछ लाभ उठा नहीं पाते। रही दूसरी श्रेणी वालों की

बात, ये लोग हिन्दू-वर्म के उतने ही पक्षपाती तथा अनुयायी बहने जा सकते हैं, जितने किसी और वर्म के। इनके लिए प्राचीन बातें सभी ठोंग होती हैं और अर्वाचीन सार्वभौमिकता के आदेश में इतने निमग्न रहते हैं कि सामाजिक उन्नयन इनको किसी बात से रोक ही नहीं सकता। खेद तो यह है कि इस प्रकार का जीवन उनका अभी से उन जाता है, जब वे उँची कक्षाओं के विद्यार्थी रहते हैं। फल यह होता है कि प्रथम श्रेणी वाले लोग तो छोड़ और मनहूस हो जाते हैं, जिन्हें सामाजिक धन्यों में कुछ प्रयोजन हा नहा रह जाता और इससे प्रतिभूल दुमरी मोटि व लोग नितान्त सामाजिक प्राणी बन जाते हैं। उनके लिए विशेषार्जन अथवा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करना इतना आवश्यक नहीं जितना भले आदिमियों में उठना पठना, समाज की दृष्टि में सम्म हो जाना अथवा सिनेमा थिएटर जाना। उन्हें तो ज्यों त्या करके डिग्री मिल जानी चाहिए, क्योंकि उनकी आगों में डिग्री ही का अधिक गौरव है, वही सम्मता अथवा ज्ञान की सर्व-स्वीकृत मोहर है। उनके लिए तो—और उनके लिए ही क्यों, आजकल सभी विद्यार्थियों के लिए—गृहस्थ-जीवन और विद्यार्थी-जीवन में कुछ भेद ही नहीं रहता। खाने-पीने, रहने-सहने तथा शौच और फैशन में आजकल के विद्यार्थी उतने ही स्वतन्त्र हैं जितने और लोग। हम यह नहीं कहते कि ऐसा मनु ने लिखा है, आचरण के विद्यार्थी हजारों न बन पाएँ, जूता अथवा माला आदि न पहने, अथवा तन-कुन्नेल न लगावें—क्योंकि बड़े-बड़े नगरों में रहकर इन विना यह सम्भव ही नहीं है—पर हाँ, यह अनुचित सीमा है कि दिन

भर में कई सूट बदले जाएँ, रोज घण्टा-भर हजामत में गुजरे और नित्य सिनेमा में पैसे खराब किए जाए। मैं तो कितने ही कालेजों के छात्रों को जानता हूँ जो महीने में बीस पच्चीस रुपये थिएटर के पीछे खर्च करते हैं और काले से गोरे हो जाने के लिए रोज बहुत सा समय मल-मल कर साबुन लगाने और आइना देखने ही में नष्ट करते हैं। इन बेचारा की समझ में यह नहीं आता कि मर्यादा सोन्यं फुट-फुट शरीर और सरलजीवन में है, महीने में दस बारह रुपये स्नो क्रिम, पॉमेड हेअरलिन आदि में खर्च करने से ही यह बाजार में मोल नहीं मिल जाता। पैसल चलना इनके लिए शान के खिलाफ है, चाहे साइकल पर दोड़ते-दोड़ते रोगी भले ही हा जाय। शान ही नहीं, इनमें स्त्री सुलभ लज्जा की भी बहुत मात्रा आ जाती है और शायद ही किसी को आप धूप में नंगे जन्म बटे देख सकें। बन्द कमरों में नहाना और जहाँ तक हो मन शरीर का प्रत्येक अंग कपड़ों से ढक रक्खता—ये शिक्षितों के शरीर विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों में से है। उन्हें शायद यह नहीं मालूम कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के कमीशन में सर माइकल सैंडलर जन सर आशुतोष मुखर्जी के यहाँ परामर्श करने आया करते, तो मुखर्जी महोदय कभी-कभी यों ही धूप में नङ्गे बदन चौकी पर बैठे पैठे ताकरो से कड़वा तेल मलवाया करते थे। उबर मर माइकेल कुर्सी पर बैठते और दूसरी ओर सर आशुतोष बड़े घण्टों तेल सुजाते रहते—इसी प्रकार दोनों विद्वानों में वाद विवाद चलता रहता।

इतना ही नहीं, हमारे नवयुवकों में अपनी मातृमाया अपने पूर्वजों के प्रति घृणा सी उत्पन्न हो जाती है

यह नहीं कहते कि हम लकीर के फकीर बने रहें अथवा 'तातस्य  
 वूपोऽयमिति ब्रुवाणा, चार जल मापुम्पा पिवन्ति' वाना उदाहरण  
 अनुकरण करें पर क्या यह लज्जा थी घात नहीं है कि शिक्षितों  
 को हिन्दी धोलने अथवा हिन्दुस्तानी तिथियों और महीनों के याद  
 रखने में शरम लगती है। अधिकतम ये लोग पिता को 'फादर'  
 माता को 'मदर' बहिन को 'सिस्टर' और स्त्री को 'वाइफ' ही  
 कहेंगे, चाहे घातचीत हिन्दी में ही करते हों। ये सब शब्द  
 'प्राइवेट' समझे जाते हैं और सभी प्राइवेट बातों को अगरेजी  
 में कहना भी इनकी शान में शामिल है। शान के इसी भाव के  
 कारण पढ़े-लिखे में पाखण्ड भी आ जाता है, उदाहरण के लिए  
 विद्यार्थियों को यह दिखाने में आनन्द आता है कि वे कभी पढ़ते  
 नहीं, यों ही प्रतिभा के बल पास हो जाते हैं, अथवा लोग उन्हें  
 जितना धनी समझते हैं, उससे वे कहीं अधिक मालदार हैं। जहाँ  
 पहले विद्यार्थियों की शान परिश्रम से पढ़ने और सीखे-सादे रहने  
 में थी, वहाँ अब कम पढ़ने और अलयेला बन कर घूमने फिरने  
 में है। इसका मुख्य कारण बड़े-बड़े नगरों में रह कर पाश्चात्य  
 सभ्यता तथा विलासिता पूर्ण समाज के बड़े बड़े प्रलोभनों की  
 चक्रवर्ती में पड़ जाना होता है। इसीलिए तो प्राचीनकाल के  
 गुरुकुल शहरों से दूर प्रकृति की स्वतन्त्र ब्रीडास्थली में रखे  
 जाते थे, जहाँ विकासमान मानव हृदय को इन प्रलोभनों में  
 फँसने का अवसर ही नहीं मिलता था। काशी विश्व विद्यालय की  
 स्थापना शहर से दूर अवश्य हुई है, पर वहाँ भी छात्रों को महलों  
 में रहने का अवसर दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि  
 वे अपने गाँवों में लौट कर वहाँ के जीवन से असन्तोष तथा

घृणा प्रकट करने लगते हैं।

दूसरा भीषण रोग, जो हमारे शिक्षित नययुवका में प्रचण्ड रूप से बढ़ रहा है, कुत्सित तथा अस्वामाधिक प्रेम है, जिसका विवरण देना भी लज्जाजनक है। जितनी ही जल्दी समाज इन भयावह एवं सक्षामक रोगों से परिचित हो जाय उतना ही कल्याण होगा। इस जघन्य लहर के बढ़ने के दो मुख्य कारण हैं। एक तो धार्मिक शिक्षा का अभाव और दूसरा सामाजिक नियन्त्रण की वृद्धापीनता। इस रोग की निवृत्ति तब तक न होगी जब तक स्कूलों और कालेजों के छात्रों के जीवन में सरलता और दृढता का प्रचार न किया जाय। यदि ऐसा न हो सके तो ऐसी शिक्षा से तो अशिक्षित रहना ही अच्छा है। हमारा निचार है कि शिक्षितों की नशाफत और उनके नाज-नरारे बहुत कुछ कम हो जाय, यदि सैनिक शिक्षा सब के लिये माध्यम कर दी जाय। इससे शिक्षितों में रुग्ण और सिपाहीपन आजायगा।

सभी मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक दुर्बलताओं के कारण ही तो हमारे नययुवक आगे चनकर जीवन में कुछ कर नहीं सकते। वे सप्ताह में मारे मारे फिरते हैं और उन्हें कोई काम नहीं मिलता। बहुत से तो काम करने के योग्य होते भी नहीं। चर नोकरिया के स्थान तथा बकालत आदि पेशे ठसाठम भरे पड़े हैं।

शिक्षितों की यह दशा बहुत दयनीय है और इसकी दो ही औपविया हैं। एक तो यह कि उच्च शिक्षा के लिए केवल उन्हीं लोगों को भरती किया जाय जो इतने प्रतिभावान् हो कि देश तथा समाज की सेवा कर सकें और दूसरी यह कि कृषि,

इंजीनियरी आदि पेशेवाली शिक्षा का अधिक प्रचार हो। कुछ समय हुआ पञ्जाब गवर्नमेण्ट ने पढ़-लिखों की वेकारी की समस्या सुलझाने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी। उस कमेटी ने तो यह प्रस्ताव रिया था कि उच्च शिक्षा इतनी असाध्य बना नी जाय कि साधारण लोग उसमें जा ही न सकें, पर इस तरह तो केवल घनाङ्ग ही उससे लाभ उठा सकेंगे। होना यह चाहिये कि जो युवक आगे चलकर अपने विचार, बल तथा मस्तिष्क से कुछ मौलिक कार्य कर सकें, वे तो ऊँची डिग्रियां भले ही प्राप्त करें पर जन-साधारण में जीवनोपयोगी शिक्षा की मात्रा अधिक करने का प्रयत्न हो। आजकल हमारा ध्येय यह हो गया है कि सभी प्रेजुण्ट हो जायें और जीवन का अधिक भाग डिग्रियों के पीछे ही बिता दें। इसमें समय भी अधिक लगता है और काम भी थोड़ा होता है, तत्त्वज्ञान नहीं हो पाता, जिसका एक कारण यह भी है कि मातृभाषा द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती। जापान में ऊँचे-ऊँचे कर्मचारियों के लिये ही थोड़ी-थोड़ी काम चलाऊ अंगरेजी जानना आवश्यक होता है, पर अधिकतम वहाँ का काम मातृभाषा में ही होता है। वहाँ १८६६ में शिक्षा अनिवार्य की गई थी और आज प्रत्येक जापानी स्त्री पुरुष शिक्षित है।

सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श भी यही है कि देश का प्रत्येक साधारण मनुष्य आधुनिक जीवन निर्वाह के काम की सभी बातें जाने। हमारे देश और यूरोप अमेरिका में विशेष अन्तर यही है कि एक ओर तो हमारे सर्वश्रेष्ठ प्रेजुण्ट वहाँ के डिग्रीधारियों के तुल्य हैं, परन्तु दूसरी ओर एक साधारण





अपने प्रशंसामय अतीतका स्मरण कराने—उन्नति के मार्गों को सुझाकर उद्योगके लिए उत्साह-प्रदान करता है, और उन्नत जातियों को समलकर चलनेकी राह दिखाता है—उसे उस रास्ते पर चलनेसे उचाता है, जिस पर चलकर अनेक मदान्त्र जातियों का नाम निशान तक मिट गया। इतिहासके बिना ससार अमल्य आरों होते हुए भी अन्धा ही है। राजतरंगिणी'कार शशमीर के महाकवि 'जल्हण' ने सत्त्विके कृत्य—( इतिहास )—की प्रशंसा में क्या अच्छा कहा है—

“यप्यासत्रिभन्कुम्भशायित पदा येऽपि धिय लेभिरे,  
यपामप्यत्रमन् पुरा युवतयो गेहेष्वहश्चन्द्रिका ।  
तोल्लोकोयमवैति लोच-तिलकान् स्वप्नेप्यचातानिब,  
भ्रात सत्त्विकृत्य । किं स्तुतिशतैरन्ध जगत्त्राविना ॥”

अर्थान्—जिनके द्वारपर हाथियोंके झुण्ड झूमते थे, जो भस्म हाथियाँ भस्म पर पर रखकर स्वच्छन्द चिचरते थे, जिन्होंने बाहुबलसे राज्य-लक्ष्मीको बशमें करके 'गृहदासी' बनाया था, जिनके महलाम गृह लक्ष्मिया अपने 'आसेचनक' अलौकिक आलोक में दिनमें भी चादनी झिटकाए रहती थीं, उन सोभाग्यशाली, लोचतिलक, परम-भरावमी, स्मरणीय महापुरुषों को भी यह कुनत्र और विस्मरणशील समाज स्वयंके समान भूल जाता है—भूलकर भी कभी याद नहीं करती कि वे भी, कभी, कहीं, कोड, थे । जिसके न होने से यह सब हो जाता है । भई, सत्त्विक कृत्य इतिहास । तुम धन्य हो तुम्हारी तारीफ कितनी करे, सचमुच यह ससार तुम्हारे बिना निपट अन्धा है । तुम्हें सब लोक माली 'जगच्चक्षु' हो अतीतका स्मरण कराने वाले—भूतको

वर्तमान के रूप में प्रत्यक्ष दिखाने वाले एक तुम्हीं हो ।

अवनति के गहरे गर्त में गिरी हुई जाति को उठाने के लिए इतिहास ही प्रधान साधन है । इतिहास की महिमा अद्भुत है । इतिहास जराजीर्ण जाति के लिए सजीवन रसायन है, मोहान्त्र-समाज की आरों खोलने वाला सिद्धाजन है । आर्थजाति को अवनत करने वाले अन्य कारणों में से इतिहास का अभाव भी एक कारण रहा है । अपने जातीय इतिहास को भूलकर कोई देश और समाज जीवित नहीं रह सकता—सभ्य नहीं कहला सकता ।

‘फौमर्की तारीखसे जो बेखबर हो जायगा,

रफ़ता-रफ़ता आदमीयत खोके खर हो जायगा ।’—

खरता’से बचने और ‘मनुष्यता’ सम्पादन करनेके लिए इतिहासका अध्ययन अनिवार्य है—नितान्त आवश्यक है । उत्तम इतिहासकी जहाँ इतनी महिमा है, वहाँ उरे इतिहासका परिणाम भी बड़ा भयकर है । नाच धुत्तिका पक्षपाती इतिहास लोगक कभी-कभी बेर-बिरोध के विष का ऐसा बीज बो जाते हैं, जिनका फल केवल उन्हें ही नहीं, जिनके साथ यह अन्याय किया गया है, स्वयं उन मानव-कुल-कलक इतिहास-लेखकों के परवर्ती वंशजोंको भी पीछे सदियों तक भोगना पड़ता है । मतान्त्रताकी आधीमे पड़कर बड़े बड़े बहक जाते हैं—तात्सुव और हठधर्मी की शह पाकर ‘फरिश्त’ भी शैतान के कान काटने लगते हैं । हिन्दू मुसलमानों के वर्तमान वैर बिरोध में इतिहासों के पुराने पक्षपात-भूरित पोथे भी प्रधान कारण हैं । उन्हें पढ़कर हमारे मुसलमान माई आज भी वही पुराना स्वप्न देखते हैं—

‘महामृद गजनी’ घनम्बर कागिरि हिन्दुओं से ‘जहनुम रमीद’ करना चाहते हैं। इधर हिन्दू भी विधर्मी स्लेन्ड्रोने उन अत्याचारों से याद करके कुट्टते हैं। परम्परकी इस दूषित मनाष्टि को बदलनेके लिए मधे इतिहासकी किन्हीं आवश्यकता है, यह किसी भी निराश्रय देश हितपीमे द्विषा नहीं है। इतिहासक अभ्ययनस बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ अनायास दूर हो जाती हैं। आचरन बौद्धधर्म और बौद्धधर्म शासकोंकी श्रेष्ठताएँ गीत गानेका एक फैशन सा हो गया है जिसे हमारे बहुतसे बच्चे और लोग पार पार गेहरान रहते हैं। बौद्धधर्म के हामका कारण उन्हें हिन्दू धर्मियों का अत्याचार और बौद्ध-मत विद्वेष ही प्रतीत होना है। वे समझते हैं कि भीरावराचार्य ने और उनके अनेक अनुयायी लोगोंने ही बौद्धधर्मको भारतसे निरासित किया है। इसके लिए न जाने किमनी कल्पित कथाएँ गढ़ रची हैं। कोई कहता है—‘लागों बौद्धोंको जलजामें भर-भरकर डुबो दिया गया।’ कोई कहता है—‘हाथ-पाय बाध-बाध कर आगमें भाव लिया।’ इस प्रकार हजारों हिन्दुआने बौद्धों का और बौद्धमतका विनाश कर दिया। जो बौद्ध जात लकर भारतसे बाहर भाग गए वे बच गए, जो यहाँ धिर गए वे मर-मर गए। मानो यह बौद्धमतके निराश का मज्जा और सक्षिप्त इतिहास है जिसका प्रचार बड़े जोरमें आज सर्वत्र किया जा रहा है, जिसे पढ़ मुनकर बौद्धों पर दया और हिन्दुओं से घृणा उत्पन्न होती है, पर एक इतिहासिक दर्शन जब इतिहासकी दूर-बीनसे देखता है, तो उसे कुछ और ही नश्य निगई नेता है। यह घबराकर पुकार उठता है, अरे यह क्या ?—

‘मैं इलजाम ‘उनको’ नेता था क्रमूर ‘इनका’ निकल आया ।”

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री रामलाल बन्सोपाध्याय ने ‘करुणा’ और ‘शशाक’ ऐतिहासिक उपन्यास, इस घटना में प्रमाण हैं। मतलब यह कि सच्चे इतिहासका जितना प्रचार होगा, उतनी ही भ्रान्त धारणा दूर होगी, लोगों की आँखें खुलेगी, अन्धकार हटेंगा, प्रकाश फैलेगा।

मध्यकालीन यथार्थ इतिहासमें अतीत भारतका वह सुगमता दृश्य ओखोख सामन आ जाता है, जिसे ध्यान में लाने पर ‘प्राजक्लृप्ति’ शिवा-नीताम पला हुआ वर्तमान उन्नति और सामयिक सभ्यताओं ही मुख्य मर्चावृष्ट मानन समझने वाला, वदेशिक इतिहासकारों का मायाजाल में पड़कर अपने स्वरूप में भूला हुआ—प्राचीन भारतको ‘अवनत’ और ‘असभ्य’, सब प्रकारकी उन्नतिसे रहित समझने वाला ‘ई रोशनाका परवाना पाठक भी—(यदि उसमें खरा भी सहृदयता और समझ भूक याफ़ी रह गई है)—वर्तमान समय की सभ्यता पिशाचोंके सर्व-सहारी उन्नति-चक्रसे चिझाकर—पुकार कर कह उठता है—

‘लौट पीछे की तरफ, ते गर्जिश, अय्याम ! नू”।

वह वर्तमान सभ्यता की छत्र-छाया छाँड कर उन्नतिके इस आकाशके नीचेमें निकल भागना चाहता है, पर लाचारीसे यह कह कर, मन मारकर-रह जाता है—

“फलक नीचेमें हम तो कभीके,

निकल जाते मगर रस्ता न पाया”।

वास्तव में, इस वर्तमान कालीन उन्नति और सभ्यता से, हममें तो वह मध्यकालीन ‘अवनति’ और ‘असभ्यता’ ही कहीं

अच्छी थी ।

रेल, तार, मोटर और हवाई जहाज, उस समय जेशक न थे, पर भारत मंत्र प्रकार से मुग्धी था, चैन ही बशी बजाना था । ऐसा दु री और पराधीन नो कभी, किसी समय में भी न था । इस सभ्यता और उन्नति को लेकर क्या कर, जिसमें भरपेट भोजन और तन ढरने को कपड़ा भी नहीं मिलता । प्राचीन 'असभ्य' सत्तार के 'बहरी लुटेरों' से बतमान 'सभ्य' सत्तार के 'सुशासक' कितने 'परदु लफातर' और 'न्यालु' हैं । इस बात को सामान्यतः सारे सत्तार का-विशेषतः भारतवर्ष का-इतिहास पढ़ाने हाल से बडे ही करुण स्वर में पुकार पुकार कह रहा है ।

—पद्मसिंह शर्मा

शर्मा जी के 'हिंदुस्तानी एकाडेमी की दो पुस्तकें' नामक एक समालोचनात्मक विस्तृत लेख का थोडा सा अंश ।



वेसे ही व्यर्थ परिश्रम होगा जैसे मारा दिन पहाड़ खोद खोद कर अन्त में चूहा हाथ लगे और मनुष्य यह कह कर सन्ताप धारण कर ले कि अच्छा है, लाज तो रह गयी ?

नहीं, यह बात नहीं है। वास्तव में मनुष्य समाज की सन्नति मोटरों की दौड़ से या बिजली की चमक और भिन्न भिन्न प्रकार के यानों के आश्रय-जनक चमत्कारों से मापना कठिन है। मनुष्य सदा से अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार प्रकृति का भोग करत आये है। ज्या ज्यों अधिक पहिर्मुख हाकर, वह अपनी कृष्णा को विशाल करते हैं, प्रकृति देवी भी अतिरिक्ताधिक हाव भाव के जटिल जाल का विस्तार करता हुई, एक ओर से तो उन्हें पीछे चली जाती है, और, दूसरी ओर से, ज्योंही वे आगे बढ़ते हैं वह भी आगे आगे दोड़ी चली जाती है। सैकड़ों नये नये मार्गों पर सहस्रों नये नये दृश्यों को देख कर मनुष्य चकित हो जात है। अन्त में कोई किसी में और कोई किसी में रह जाता है।

प्रत्येक युग में जन से प्रेम करने वाले और विद्या से उदासीन विद्या से प्यार करने वाले और सम्पत्ति से निमुक्त तथा धन और विद्या दोनों की ओर झुके हुए लोग रहा ही करते हैं। एक समय में एक समुदाय बलवान बन जाता है और दूसरे समय में दूसरे प्रकार के लोगों की बारी आती है। इस बात को ध्यान में रख कर जब हम इतिहास के पन्ने उलटते हैं तो सर्वत्र समय समय पर भिन्न भिन्न तरंगें उमड़ती हुई देख पड़ती हैं। इनके बहाव में ही मसारा बहा करता है। दूसरे शब्दा में इसी बात को थोड़ा समझते हैं कि जन-समुदाय के सम्मुख

आज बदल बदल कर रखे जाने रहते हैं।

समाज की रचना व अनुसार मनुष्य का स्वभाव भी परिवर्तन प्रिय है। एक आदर्श के पीछे दूसरे का पर्याय आता है। यही कारण है कि समाज एक में भिन्न भिन्न चक्र चल कर प्रत्येक विचार को जनता के सामने आने के लिये घर में अधिक बार अवसर मिलता है। इन भिन्न भिन्न विचारों के साथ सारी परिस्थितियाँ भी नये निरे में प्रकट होती हैं। यदि विशेष बाधा उपस्थित न हो, तो पूर्ण विराम से कहा जाता है कि उसी प्रकार की घटना भी होती रहती है। इसी नियम को विज्ञान लोग इतिहास के पुनरावर्तन के नाम से स्मरण करते हैं।

आजकल विश्वतया का मिश्रान्त चिन्ता हो रहा है। कोई भी शास्त्र क्या न हो इसी के रंग में रंगा हुआ विद्वानों के मुग्धचिन्त से निकलता और सुनने वालों के ध्यान में पड़ता है। सब विज्ञान और सब कलाएँ इसीसा गुणगान कर रही हैं। सब दर्शन और सब विज्ञान इसी के पाद की ओर माथा झुकाय हुए नीची आस्था लाते हैं। सब मत और सब सम्प्रदाय, गण के गण, इसीके चारों ओर घेरा डाले पड़े हैं। प्रत्येक जीवन-धर भाग रहा है सिर रगड़ रगड़ कर और इसीकी पाद रज मटाक पर रमा रमा कर, इस देवों के देव के आदेश की घाट जोड़ता है। प्रत्येक करुण-विलाप करता हुआ सुनाई पड़ता है। "हे देव! कृपा करना, मेरा सब मान गुमान तुम्हारे प्रमाण पर के बिना सरझाया जाता है। यह सिर का हिलाता पन्द करो,



नहीं तो मेरी ग्रीवा पर एक बाल क सहारे लटकती हुई तीक्ष्ण अस्ति गारा अत्र पड़ी कि अत्र पड़ी। मेरे प्राण सङ्कट में हैं। मेरा आँखें पत्थरों में जाती हैं। मेरा जी गिरता और दिल बडकता है। कानों में साए साए की शुष्क ध्वनि और अगा में शिथिलता बढ़ती चली जाती है। मेरा नाक ठण्डा पड़ रहा है। कर आगे कर मेरे मन्द स्वास को मेरे बन्धु गण देख भाव रहे हैं। गले में घिघी चब गयी है। हा, प्रभो! मैं डूबा जा रहा हूँ। बचाओ बचाओ, मेरे सर्वस्व तुम हो। जीवन तुम हो। माई-बाप तुम हो। तुम्हारे एक शब्द में मेरी जीवन-घुट्टी है। दया करो, न्या करो।" ये शब्द हैं जो प्रत्येक के मुँह से काँपते हुए निरुल रहे हैं। यह देवता सुगमता से प्रसन्न होने वाला नहीं।

थोड़े से शब्दों में इस सिद्धान्त का सार यह है। ससार उत्पत्ति शील है। प्रत्येक विभाग में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। क्या प्राकृतिक और क्या मानसिक, सामाजिक अथवा आत्मिक जीवन के अंगों में कल से आज और आन से आने वाला दिन आगे है। पशु, पक्षियों का शरीर मनुष्य के शरीर का एक प्रकार से पूर्वरूप है। काल क्रम से परिस्थिति के परिवर्तन हो जाने के कारण, शीतोष्ण के प्रभाव से अग, प्रत्यग घट बढ़ कर, मड़ कर और बढ़ कर, लम्बे, छोटे और गोल होकर अथात् भ्रान्ति भ्रान्ति के परिवर्तन में से गुजरते हुए वर्तमान भिन्न भिन्न जातियों की देह का निर्माण हुआ है। मानुष-काया सब से बढ़ कर सूक्ष्म, अतृप्त उत्क्रान्ति-युक्त है। मछली और मेंढक के, हाथी और सिंह के, भेड़ और बकरी के, गौ और घोड़े के, कुकड़ और मोर के स्मारक कुछ न कुछ अंश

इसमें विनामान हैं।

आरभ मे मनुष्य का मस्तिष्क अनुभव तथा शिक्षा व अभाव के कारण बहुत दूर की न मोन मकता था। गने शन उसकी सार ग्रहण करने वाली सूक्ष्म शक्तिया पदाधा के अन्दर घुसने लगीं। पक्षिया की पीं पीं और चा चाँ से, भेड, बरखियों की मैं मैं से, गो और भेंस की वा या से, जगल के मूंगे पत्तो की सर सर से, झाडिया और वृक्षा के भुट्टा के भस्माधान के प्रकोप से पदा एने वाले मद्दार से वातर्ता की गरज से और विजली की कडर से जोलना सोच कर, उसने लागों भेगे में विभक्त बोलिया और सहस्रो भिन्न भिन्न भाषाआ का क्या विस्तृत ढाचा बना लिया है। मैं और तु व हो शब्द के फाप का विस्तार कोमों मे भी न समाने वाले वाङ्मय व रूप म हो गया है और नित्य उठता चला जा रहा है। अच्छी अन्धरी कविताएँ, दिल गहलाने वाली और शिक्षा देने वाली कथाएँ, उडे चडे मनोरञ्जन उपन्यास नये से नये नाटक और उत्तमोत्तम सार वस्तु से भरभूर पुस्तकों की मालाएँ आज मनुष्य का साहित्य-मदन की शोभा को चार चाँ लगा रही हैं।

पहले पहल मनुष्य सूर्य और चाँड को नेग्रर आश्चर्य करता था कि यह तेन और शीतल प्रकाश के गोले रहा से आ जाते हैं। प्रात और माय की लानी, पूर्णमासी की चान्नी से उज्ज्वल तथा अमावस्या के अगाध अन्धकार से ढापी हुई रात का दृश्य नाचत और कूडते हुए तागगण की सुन्दरता, उसकी हैरानी के लिए पर्याप्त सामग्री थी। विशाल पर्वतो पर उँचे-उँचे वृक्ष, गड गड ~~कहते~~ <sup>कहते</sup> पर्वतों के मरने, ठठे मारती

पुराने दर्शनशास्त्र की मार्गक्रिया कवि सम्राटों के वाणी विलास, व्याकरण तथा निम्नशास्त्र के बनाने वालों की भाषाविज्ञान में निपुणता शिल्पियों के शिल्प, महात्माओं की तपस्या और आभिक बल के वृत्तान्त—ये घातें स्तर स्तर कर इसी परिमाण पर मनुष्य पहुँचता है कि जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, उत्ति के आदर्श में लाया वषा से कोई निराम नहीं हुआ। दूसरे विचार में भी इसी प्रकार अत्युक्ति से काम लिया गया है।

कोई पदार्थ पूर्ण नहीं। गुण तथा दोष की परीक्षा कर, गुण का ग्रहण तथा दोष का त्याग करना चाहिये। प्रत्येक सभ्यता में, जो मसार में कुछ काल के लिए गम्य करती है, कुछ गुण पाये जाते हैं। अन्यथा वह मसार में क्षण भर भी न ठहरे पावे। किसी सभ्यता की उत्ति की परीक्षा इस बात से करनी चाहिये कि उसके द्वारा जितनी जतना ने कितना सुख पाया है।

—विद्वत् धु ऐम् ० १०

## योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना

हर एक मनुष्य के लिए किसी न किसी व्यवसाय, रोजगार, धंधे अथवा पेशे की आवश्यकता है और अपने लिए बुद्धिमत्ता-पूर्वक व्यवसाय चुनने में ही मनुष्य-जीवन का सफल होना अवलम्बित है। ऐसे बहुत ही थोड़े-हजारों में एक—मनुष्य होगा जिन्हें जीवन-निर्वाह के लिए कुछ उद्योग नहीं करना पड़ता अर्थात् जिनके पास आवश्यकता से बहुत ही अधिक सम्पत्ति होती है। परन्तु ऐसे मनुष्यों को भी अपने लिए कुछ कार्य चुनने की आवश्यकता पड़ती है। इसका कारण यह है कि ऐसे मनुष्यों को उदरपूर्ति के लिए भले ही कष्ट न उठाना पड़े, परन्तु अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए तथा उसे आलस्य से बचाने के लिए, इच्छा न होने पर भी कुछ काम करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवन काम करने के लिए ही बनाया गया है, और धनवान् तथा धनहीन कोई भी मनुष्य इससे बच नहीं सकता।

यद्यपि इस बात की सत्यता निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ व्यवसाय या कार्य करना ही पड़ेगा, तथापि बहुत से युवकों को इस बात में ढर और घृणा होती है। वे अपने माता पिता का पिंड नहीं झोड़ना चाहते और रोटी के प्रश्न को स्वयं हल करने में बेइच्छता समझते हैं। परन्तु उन्हें भी कभी न कभी, जल्दी अथवा देरी से कुछ कार्यारम्भ करना पड़ता है।

इसलिए प्रत्येक युवक का, जो ससार में प्रवेश करके विनय-कामना रखता है, यह कर्तव्य है कि वह शीघ्र ही इस बात का निश्चय कर ले कि वह अपनी सारी शक्तियों को किस काम में लगावेगा। अतिश्रित अवस्था में रह कर बिलम्ब करने और व्यर्थ नमय खोने से कुछ लाभ न होगा।

बहुत से मनुष्य सुख का अर्थ नहीं समझते। वे कार्य के अभाव अर्थात् आनन्द के साथ समय गिताने को सुख का साधन समझते हैं। यह एक बड़ी भारी भूल है। कहा जाता है कि उद्योग-रहित और कार्यहीन मनुष्यों का मन गेतान का निवास-स्थान होता है। भारतवर्ष में एक बड़े भारी अधिनारी को यह आज्ञा मिली कि 'अब तुम्हारे नोकरी के दिन पूरे हो गये। तुमने ईमानदारी से काम किया, इसमें उपलब्ध मे तुम्हें पेन्शन मिला करेगा।' जब उसे यह आज्ञा मिली तब वह बहुत खुश हुआ। खुशी इस बात की थी कि उसे अब काम नहीं करना पड़ेगा और मजे में दिन काटने का अवसर मिला फरेगा। उसने खुशी के आदेश में अपने एक मित्र को पत्र लिख भेजा, "अब मैंने दिन भर के झमझमे से छुट्टी पाई। रात दिन काम करने से जी ऊँच गया था। अब मुझे दम-गुनी तनख्वाह मिले तो भी मैं काम न करूँगा।" गे चार आठ दिन रात जान पर जब उसे बड़े-बड़े सरान मालूम होने लगा और जब उसने देखा कि काम किये बिना आनन्दपूर्ण जीवन बड़ा ही दुःखदायी होता है, तब उसने फिर अपने उस मित्र का शाक के साथ लिखा कि 'माई! मैं मूर्खता से यह समझता था कि काम न करने ही में आनन्द है, परन्तु बात त्रिलोक उट्टी है। अब मुझे सारु-सारु मालूम हो रहा है कि मेरा पूर्व-नीयन बहुत

ही उत्तम और सुखपूर्ण था। जितना ही अधिक काम करना पड़ता था उतना ही अधिक सुख मिलता था।" सारांश यह है कि हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहना मनुष्य के देहधर्म के विरुद्ध है। मनुष्य का मन पनचषी के समान है। जब उसमें गेहूँ टालते जाओगे तब वह गेहूँ को पीस कर आटा बना देगी। परन्तु जब उसमें गेहूँ न टालोगे तब वह रात्र अपने आपसे पीस पाम कर चीख बना डालेगी। एक तत्वज्ञानी के इस कथन से हम भी पूर्णतया सहमत हैं कि 'बहुत कम मनुष्य लोभ के कारण जुआरी या शराबी हुआ करते हैं। उनमें से अधिकांश हमें मनुष्य हुआ करते हैं जो कुछ काम न करने के कारण केवल समय बिताने के लिए ही जुआ खेलते या शराब पीते हैं।"

जब यह निर्निवाद मिद्ध है कि काम न करना अथवा आलस्यपूर्ण जीवन बिताना देना देहधर्म के विरुद्ध है, तब हमारा यही कर्तव्य है कि हम कुछ न कुछ अच्छा व्यवसाय अपने लिए पसन्द करें। यह व्यवसाय हमारे मन, इच्छा, कायशक्ति और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रतिरूल व्यवसाय करने में सफलता कभी हो नहीं सकती। विचार करने की बात है कि जिस मनुष्य को ईश्वर ने जन्म-सिद्ध चित्रकार बना कर भजा है उसे यदि किसी कारण से उसका पिता विश्वविद्यालय में पढ़ा पठाकर टिगरी दिलाना चाहे तो यह कभी हो सकता है? इधर प्रोफेसर साहव उसे क्लिप्स की बड़ी बड़ी बातें समझावेंगे और इधर वह लच्छा प्रोफेसर साहव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और हलचलों का चित्र अपने मन में खींचता जावेगा। मनुष्य जीवन

भर ज्या का त्यों रहा। उसकी योग्यता न बढ़ी। इसलिए म्यामा त्रिक प्रवृत्तियों का जानना परम आवश्यक है, और इसके जानने में जोर भी कठिनाई नहीं है। प्रायः हर एक लड़के की बाल्यावस्था के कार्यों ने यह जाना जा सकता है कि वह भविष्य में किस तरह का मनुष्य होगा। जो लड़का कालिगम उठने का पैंग हुआ है वह छोटी उम्र में भी अच्छी कविता पढ़ सकता है। जो भविष्य में शिखरी बनता है वह उचपन में लड़कों की सेना बना पना कर मेनापति का कार्य भी किया करता है। और जो भविष्य में शिख्यात श्रीरअली ठग बनता है वही लड़का उचपन में पहल पहल "मुट्ट चुरा कर" अपना पहला पाठ सीखता है। कहने का तात्पर्य यही है कि किसी की बाल्यावस्था के कार्यों और प्रवृत्तियों को देख कर यह सरलतापूर्वक जाना जा सकता है कि वह लड़का आगे चल कर किस प्रकार का मनुष्य होगा।

तब यह मालूम हो जाय कि अमुक लड़का नी अच्छा प्रवृत्ति किम प्रकार है, तब सब में आवश्यक कार्य यह रह जाता है कि उसका उसी काय में अच्छी शिक्षा मिले। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल योग्य और उदार शिक्षा पाने पर मनुष्य अपने व्यवसाय में थोड़े ही परिश्रम में सफल हो सकता है। हाँ, अभी अभी यह भी लेना जाता है कि किसी मनुष्य के भविष्य जीवन का पूरा प्रतिविम्ब उसकी बाल्यावस्था में नहीं देखता। परन्तु एने अपराधत्मक उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं।

जिस तरह उस मृष्टि की प्रत्यक्ष स्तु म एक एक विशेष गुण रहता है उसी तरह प्रत्येक मनुष्य में भी कुछ निश्चित कार्य करने की शक्ति प्राण्य ही रहती है। यह शक्ति प्रथम स्वाभाविक

प्रवृत्ति चाहे किसी विशिष्ट अवस्था अथवा परिस्थिति में न भी मालूम हो सके, परन्तु वह ऐसी दृढ़ ओर उत्कट होती है कि वह आप ही आप प्रकट हो जाती है। उसे कोई छिपा नहीं सकता।

जब हम अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार कोई व्यवसाय चुन ले तब फिर हमें उसमें हजारों बाधाओं के होने पर भी लगे रहना चाहिए। उद्योग युवावस्था में कुछ कष्ट, उदासीनता अथवा अकृतज्ञता होने में युवकगण हताश होकर अपने इच्छित व्यवसाय का यह समझ कर छोड़ देते हैं कि कदाचित् वे किसी दूसरे व्यवसाय में लग जाने से अधिक सफल भूत होंगे। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। हमें सर्वदा यही उचित है कि हम जिस धन्य को अपने लिए एक बार चुन ले फिर उस कभी न छोड़ें, उसी में रुढ़नापूर्वक लगे रहें। जीवन समग्र में विजय प्राप्त करने के लिए अपनी प्रवृत्तियों के अनुरूप व्यवसाय चुनने की जितनी आवश्यकता है उससे जाकर उसमें रुढ़तापूर्वक लगे रहने की भी है। कठिनाइयों के उपस्थित होने पर यह निवार करना भूलता है कि हम किसी दूसरे व्यवसाय में अधिक नफा हुआ होत। जब अपने व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे धन्य में लगने के लिए जी ललचाता है तब उस दूसरे धन्य के कमल गुण और लाभ ही दृष्टिगत हुआ करते हैं और अपना धन्य के कमल दोष और हानियाँ। पर ऐसा होना संभव नहीं है। हम जिस गुलाम को डेरेग उमा में काट मिल सकते हैं। इसलिए अपने एक बार के रुढ़ निश्चित व्यवसाय को बिना समझे वृत्ति कभी नहीं छोड़ना चाहिए। नहीं तो लेने के देने पड़ जायेंगे और यही हालत होगी कि “न मुदा ही मिला न बसाले सनम। न इधर पे हुए न उधर के हुए।” इसलिए हमें किसी व्यवसाय



## स्वास्थ्यरक्षा

इन शरीरों को पा कर हम सब भिन्न-भिन्न रूप में इस जगत्कानन में परिभ्रमण कर रहे हैं। हमारे अनेक कर्तव्य हैं, भौति भौति की निर्वाह-शालियाँ हैं, एक मुख्य उद्देश्य होते हुए भी असंख्य उद्देश्य हैं। इन सब की सिद्धि और पूर्ति के लिए शरीर ही एक आधार है। यहाँ तक कि ईश्वर उपासना भी शरीर के बिना सम्भव नहीं हो सकती। किसी कवि ने भी कहा है कि शरीर ही सब से मुख्य धर्म का भावन है। तो इस शरीर को ठीक अवस्था में रखना हमारा सब से पहला और आवश्यक कार्य हुआ। यही स्वास्थ्य रक्षा है।

यह शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश इन पाँच भूतों का बना हुआ है, एसा प्रायः सभी मानते हैं, और नहीं तो जरा हेर-फेर से तो अवश्य ही मानते हैं। शरीर विज्ञान वालों का कथन है कि मात, पित्त, कफ ये तीन तत्त्व शरीरों को चलाने में हेतु हैं। और कम अविक होने पर ये ही तीन देह-नाशक भी हैं। इनका ठीक ठीक मात्रा में होना शरीरों की स्थिति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उधर पाँच भूत भी इन तीनों के ही कारण रूप समझिये। तो सीधी सीधी भाषा में यह कहा जा सकता है कि शरीर में जितनी गर्मी और ठंडक की आवश्यकता हो उतनी गर्मी और ठंडक जितनी सिग्धता होनी चाहिये उतनी स्निग्धता और जितनी वायु आवश्यक है उतनी वायु होने से स्वास्थ्य की रक्षा



और अत्यावश्यक नियम है। समयबद्धता के बिना स्वस्थ रहने के लिये लागू उपाय किये जाय, एक फल न होगा। अच्छे से अच्छा भोजन भी देह को ठीक न रख सकेगा, यदि नियमपूर्वक न खाया जायगा। और नियम से किया हुआ सूखा सूर्या भोजन भी स्वास्थ्य को ठीक रखेगा। नियमितता और आरोग्य का इतना सम्बन्ध है जितना काया और छाया का। जसा पदार्थ होता है—लम्बा, मोटा, टेढ़ा—वसी ही उसकी छाया होती है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य का जेसा नियम होता है वसी ही उसकी काया होती है। जिन्हें नियमितता के रस का पता है वे कभी रोगी नहीं होते। उनका स्वास्थ्य कभी नहीं बिगड़ता। इस व्यापक नियम को अपनाने के पश्चात् ही स्वास्थ्यरक्षा के ओर नियमों तथा साधनों को उपयोग में लाने से वास्तव में स्वास्थ्य की प्राप्ति हो सकती है। इसके बिना नहीं।

नियमित आहार व्यवहार और नीरोगता का अटूट सम्बन्ध है। मनुष्य-शरीर में पृथिवी का अंश अधिक है, यह निर्विवाद है। इस त्रेह को पार्थिव पदार्थों से पुष्ट करना मनुष्य का पहला काम है। भालक उत्पन्न होता है, स्वभावतः ही वह आहार के लिये माता के स्तन की ओर प्रवृत्त होता है। शरीर की भूख को मिटाना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, जिससे रक्त, मांस आदि की वृद्धि हो और यह शरीर-नौका ठीक ठाक चलती चली जाय। अब देखना यह है कि भोजन कैसा और कितना होना चाहिये। दूध, घी, मक्खन दही, मट्ठा, गेहूँ का आटा, चना, शाक-सब्जी, फल आदि उत्तम उत्तम वस्तुओं का जो नियमित आहार करता है, वह अस्वस्थ

कभी नहीं होता। मास आदि तामसिक पदार्थ मनुष्य-शरीर के भोज्य पदार्थ नहीं। भोजन की मात्रा ऋतु और अवस्था के आश्रित है। कच्चे भोजन की अपेक्षा पका भोजन अधिक स्वास्थ्यकर है, क्योंकि पकाने से भोजन स्वच्छ और रोग के कीटाणुओं से रहित हो जाता है। दूध दुधते ही पी लेना हो तो उसे गर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती, तब तो वह सत्र से अधिक गुणकारी होता है। गट्टे-मीठे, मिर्च मसाले-दार और गरिष्ठ पदार्थों का अधिक सेवन स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है। भोजन सदा धीरे-धीरे खूब चबाकर करना चाहिये, जिससे सारा जोर आमाशय पर ही न पड़ जाय। जल्दी-जल्दी निगलने वाले सदा रोगी दिखाई देंगे। भोजन के ऊपर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा, मनुष्य उतना ही अधिक स्वस्थ रहेगा। खाया हुआ पदार्थ यदि ठीक-ठीक पचता है, तो समझो कि शरीर स्वस्थ है। पाचन-शक्ति बिगड़ी कि स्वास्थ्य बिगड़ा। इसलिये भोजन धीरे धीरे कभी नहीं करना चाहिये। सारा दिन चरते रहने वाले और ठूस-ठूस कर खाने वाले पेट लोगों की पाचन शक्ति मन्द पड़ जाती है।

पाचन शक्ति को ठीक रखने के लिये सब से मुख्य बात मल-शुद्धि की नियमितता है। यदि तुम नियम से शौच होते हो तो तुम पाचन-शक्ति की ओर और अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान दे रहे हो, अन्यथा नहीं। मल आदि वेगा को और छींक, उच्चासी आदि को रोकने वाले शीघ्र ही शरीर-यन्त्र को बिगाड़ बैठते हैं। प्रातः काल उठकर यदि पानी पिया जाय तो पेट साफ हो जाता है, पाचन शक्ति बढ़ती है और स्वास्थ्य में उन्नति होती है। बहुत पानी

या शर्बत पीने में, विरुद्ध गुण वाली वस्तुओं को एक साथ खाने से, श्रुत के अनुकूल भोजन न करने से, देर तक बैठे रहने से, दिन भर लेटे नटे ही बिताये से और किसी चिन्ता में लीन रहने से खाना हुआ पदार्थ नहीं पचता। भोजन के एक घण्टे पश्चात् यदि पानी पिया जाय तो अत्यन्त गुणमग्न होता है। मोटा और उफ का अधिक प्रयुक्त करने वालों को मग्न अपच की शिकायत रहती है। पूर्ण आग्नि खाने का म्यभाव उतना ही भयंकर है जितना कि उद-पटाग खाने का म्यभाव। इनसे जाठराग्नि सदा के लिय मन्द पड जाती है, जैसे नाँवर गारों व ही आधिन रहने जाने लोग आनमी बन जात हैं।

भोजन का शरीर पर प्रभाव मा के ऊपर अवलम्बित है। हृदय प्रसन्न हो तो माग भोजन भी उद्भूत असर पगता है। इसक लिय बलह से मग्न रचना चाहिय। किसी लड़ाई-भगडे क कारण, अथवा आपम व कलह क कारण, वा किसी दुर्घटना के कारण चित्त यदि निन्न हो तो एक डम भोजन करना भूखे रग से उहाँ अधिक हातिकर है। गेमे समय में भोजन का उलटा प्रभाव होता है। पडल मन को शान्त कर लिया जाय, कुछ समझा-भुझा लिया जाय, तब भावन कग्न से लाभ होता है। भोजन यदि मन-व्यान्धित न मिले, और करना उही हो, तो उसका निरालर ररक से खाने से तो न खाना ही अच्छा। अथवा उसे ही सर्वोत्तम भोजन विचार कर खाना चाहिये। अन्यथा वह पचेगा नह।

प्रतिदिन शीतल जल में स्नान करने से शरीर मग्न स्वस्थ रहता है। दुर्ल व्यक्ति थोडे गर्म पानी से स्नान कर सकता है। अत्यन्त शीत प्रधान देश में भी गर्म जल से नहाया जा सकता



व्यायाम स्वास्थ्यरक्षा का अत्यावश्यक अङ्ग है। दूरद वेदक, कयड़ी, कुश्ती, फुटबाल आदि खेल, तरना, दौड़ना आदि अनेक प्रकार के व्यायाम हैं। अपनी अपनी रुचि और अवस्था के अनुसार कोई भी व्यायाम किया जा सकता है। अधिक अवस्था के लोगो के लिये प्रातः और सायं की सैर ही एक व्यायाम है। वेन ता प्रातः फल का वायुमेवन स्वास्थ्य-रक्षार्थ मन के लिये बहुत ही उपयोगी है। व्यायाम का उद्देश्य शरीर की गर्मी को ठीक रखना है। जो किसी प्रकार का भी व्यायाम नहीं करते, वे सदा रोग ग्रस्त रहते हैं। प्रश्न का उत्तर, वे क्या उडे-पूडों से अधिक नौरोग रहते हैं? घोरान होने पर ये बड़ों की अपेक्षा क्यों शीघ्र स्वस्थ हो जाते हैं? क्योंकि वे क्रूर से पाँवते गटते हैं, उतका तेन तदन उठते रहता है। इसीलिए शरीर रक्षा के लिए व्यायाम एक मुख्य साधन है। इससे आयु भी बढ़ती है और शरीर भी नौरोग रहता है। बल और शक्ति की उपलब्धि हाकर शरीर में कठिन कठिन काय करने की क्षमता आता है। उत्साह और स्फूर्ति की अधिकता हो जाती है और जीवन सुखमय बन जाता है।

परमात्मा ने दिन कार्य करने के लिये, कर्तव्य पालन करने के लिये, स्वार्थ और पदार्थ की पूर्ति के लिये बनाया है और रात्रि दिन-भर के थकाने शरीर के लिये आराम करने के लिये बनाई है, परन्तु यह स्वेच्छाचारी मनुष्य रात को जागने और दिन का सोने में भी कुछ शान समझता है। पर उमे यह नहा पता कि उसका यह कार्य स्वास्थ्य की जड़ पर कुठार है। इससे मदा वचना चाहिये। इसी प्रकार कम सोना और अधिक सोना भी स्वास्थ्य का

नाशक हैं। क्या हम ठीक समय पर सोने और जागने वाले पशु पाक्षियों से शिक्षा न ग्रहण करेंगे ?

नशीली वस्तुएँ शरीर का स्वास्थ्य बिगाड़ देती हैं। देखने को तो मनुष्य शराब पीकर लाल से हो जाते हैं, और बहुत से तो इसीलिये शराब पीते हैं, परन्तु उनका भीतर क्षीण और भस्म सा हुआ जाता है। जहाँ नशा उतरा कि काया बुझे हुए कोयले सी काली और राख सी फुस हो जाती है। अफीम, गाजा भोंग, सिगरेट, हुका आदि सब अपने अपने गुणों—दुर्गुणों के अनुसार स्वास्थ्य के लिये हानिकारक ही हैं। चाय-रहवा आदि वस्तुएँ उसी काल के लिये कुछ जोश देती हैं, पीछे वे भी शरीर को बहुत शिथिल कर देती हैं। खून को सुप्ताने के तो ये पूरे साधन हैं। इन तिनो चाय और तमाखू का सेवन एक साधारण बात हो गई है, परन्तु इनका प्रयोग करने वाले भी कभी-कभी इससे बहुत तग आ जाते हैं, आदत की मजबूरी से छोड़ भले ही न सके। यदि सचाई से विचार किया जाय तो पता चलता है कि इन वस्तुओं से हमारे शरीरों को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता।

राने पीने का स्वास्थ्य से जितना सम्बन्ध है, आचरण का उससे कम नहीं। मदाचार से स्वास्थ्यरक्षा में पूरी सहायता मिलती है और दुराचार से स्वास्थ्य की हानि होती है। सदाचार को इन्द्रियनिग्रह कहा जा सकता है। जो अपनी इन्द्रियों के वश में पड़ कर मिथ्या आहार-व्यवहार में फँस जाते हैं वे स्वास्थ्य से बैठक हैं। वय्र जैसा भी उनका शरीर कुछ दिनों में क्षीण और दुबल हो जाता है। गीर्य-रक्षाब्रह्मचर्य का शरीर से



यही मन्तव्य था। वे रूख स्वस्थ और दृष्ट-पुष्ट थे, उनकी आत्मा की उद्यता असीम थी।

स्वास्थ्य के बिना जीना मृत्यु के तुल्य है। पड़े पड़े सड़ते रहने में क्या लाभ ? नियमित आहार-व्ययनार से और नियमित जीवन से जिन्होंने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की है वे धन्य हैं।

स्वास्थ्य होने से जीवन आनन्द और उल्लास के प्रवाह में बहा करता है। दुःखमय जीवन किस काम का ? स्वास्थ्य के बिना सब सुख सामग्री निष्फल है। करोड़ों रुपया बैंक में जमा है, घरवाँ रुपये का व्यापार है, परन्तु गाने के लिये कठिनता में एक फुलका ही नसीब होता है 'यह भी जोड़ जीवन है ? तभी तो कहते हैं कि एक स्वास्थ्य पर लाखों सुख न्योछावर कर लिय जा सकते हैं। उसे तो स्वास्थ्य-प्राप्ति की लोको में बहुत चाह है, पर लोग प्रायः स्वास्थ्य के नियमों पर नहीं चलते। इमीलिय रोगों और घट्ट डाक्टरों की एक जैसी वृद्धि होती जाती है। स्वस्थ शरीर से ही सब धर्माचरण हो सकते हैं, नीरोग व्यक्ति ही सब प्रकार की उन्नति कर पाते हैं। लोक-व्यवहार के छोटे से बड़ा काम के लिये भी स्वास्थ्य की आवश्यकता है। अस्वस्थ मनुष्य पग पग पर ठोकरें खाता है और अपमानित होता है। जित जातियाँ के लोग स्वास्थ्यरक्षा का ध्यान नहीं रखते और शरीर की ओर से विमुख रहते हैं वे जातियाँ ढेर तब स्वतन्त्र नहीं रहने पातीं। स्वास्थ्य अमूल्य निधि है। इसकी रक्षा बड़े यत्न से करनी चाहिये।

## जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये आत्मसयम अत्यन्त आवश्यक है

प्रत्येक व्यक्ति में अपने जीवन का सफल बनाने की प्रवृत्ति आकाङ्क्षा होती है। मनुष्य का प्रत्येक काम इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ करना है। एक शिशु का जन्म होता है। धीरे धीरे वह बढ़ने लगता है। उसके साथ ही साथ माता पिता की महत्प्रयासाकाङ्क्षा निश्चित होती जाती है। वे साचते हैं कि हम इसका भली-भाँति पालन पोषण कर इसे इतना योग्य बनाएँगे, यह इस प्रकार अपने जीवन को सफल बनाएँगा और इसी में हमारा यश तथा हमारी प्रतिष्ठा की कुञ्जी निहित है। इधर जैसे ही बालक ने होश सम्भाली कि अपने जीवन की सफलता को लक्ष्य बनाना आरम्भ किया। यह बात और है कि किमी ने अपने जीवन की सफलता त्रिसा एक घात में मान ली हो, पर उसका सम्पूर्ण प्रयत्न अपने कार्य की सिद्धि में ही लग जाते हैं। एक ग्रामीण कृषि आदि की देखभाल के लिये पूर्ण योग्य होने में ही जीवन की सफलता देखता है। एक नागरिक माधारेण शिक्षा प्राप्त कर क्लर्क का जीवन निताने में ही अपने जन्म का साफल्य समझता है। कुछ लोग अपने जीवन को राम और कृष्ण के आदर्श जीवनों के अनुरूप किये बिना जीवन की सफलता नहीं मानते। उद्देश्य सच का एक ही है और वह है अपने जीवन में सफलता प्राप्त करना। पर बहुधा देखने में आता है कि अधिकांश अपने जीवन में सफल नहीं हो पाते। इसका क्या

यही सत्य था। ये गुरु स्वयं और दृष्ट-पुष्ट थे, उनकी आत्मा की उद्यता असीम थी।

स्वास्थ्य के बिना जीना मृत्यु के तुल्य है। परं पर महत रहने में क्या लाभ ? नियमित आहार-व्ययन में और नियमित जीवन से चिन्हाने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की है ये धन्य हैं।

स्वास्थ्य होना ही जीवन आनन्द और उत्साह के प्रसार में काम करता है। दुःस्मय जीवन किस काम का ? स्वास्थ्य के बिना मय सुख भ्रमर्षी निकल है। फरोकों रूपाय बैंक में जमा है, अरथा रुपय का व्यापार है पर तु श्यावे व लिये वृत्तिमानों एक कुतका हा नर्माय जाता है 'य' भी फोटे जीवन है ' तमो तो कहत हैं कि एक स्वास्थ्य पर लाया सुख श्यादाय कर दिव जा सकते हैं। ऐसे ता स्वास्थ्य-प्राप्ति की लोगों में बहुत चाह है, पर लोग प्राय स्वास्थ्य के नियमों पर नज़र चलत। इमीनिय रोगों और यन् डास्टग की एक नर्मा वृद्धि होती जानी है। स्वयं शरीर से ही मय धमावरण हा मकन हैं, नारीय वगमि ही सय प्रकार की उन्नति कर पाते हैं। लोक-व्ययन के छोटे से छोटे काम के लिये भी स्वास्थ्य की आवश्यकता है। अस्थि मनुष्य पग पग पर ठोकर खाता है और अपमानित होता है। बिना जातियों के लोग स्वास्थ्यका का ध्यान नहीं रखत और शरीर की ओर से विमुख रहते हैं ये जातियाँ के तक स्वतन्त्र नहीं रहने पातीं। स्वास्थ्य अमूल्य निधि है। इसकी रक्षा यन् यन् में करनी चाहिये।

## जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये आत्मसंयम अत्यन्त आवश्यक है

प्रत्येक व्यक्ति में अपने जीवन का सफल बनाने को प्रयत्न आसक्त होती है। मनुष्य का प्रत्येक काम इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ करता है। एक शिशु का जन्म होता है। धीरे धीरे वह बढ़ने लगता है। उसके साथ ही साथ माता पिता की महत्परायणा विस्तृत होती जाती है। वे साबित हैं कि हम इसका भली-भाँति पालन पोषण कर इसे इतना योग्य बनाएंगे, यह इस प्रकार अपने जीवन को सफल बनाएगा और इसी में हमारा यश तथा हमारी प्रतिष्ठा की कुञ्जी निहित है। इधर जैसे ही बालक ने होश सम्भाली कि अपने जीवन की सफलता को लक्ष्य बनाना आरम्भ किया। यह बात और है कि किसी ने अपने जीवन की सफलता किंसा एक बात में पा ली है, पर उसका सम्पूर्ण प्रयत्न अपने कार्य की सिद्धि में ही लग जात है। एक ग्रामीण कृषि आदि की देख-भाल के लिये पूर्ण योग्य होने में ही जीवन की सफलता देखता है। एक नागरिक माधारेण शिक्षा प्राप्त कर क्लर्क का जीवन निताने में ही अपने जन्म का साफल्य समझता है। कुछ लोग अपने जीवन को राम और कृष्ण के आदर्श जीवना के अनुरूप करि जिना जीवन की सफलता नहीं मानते। उद्देश्य सब का एक ही है और वह है अपने जीवन में सफलता प्राप्त करना। पर बहुधा देखने में आता है कि अधिकांश मनुष्य अपने जीवन में सफल नहीं हो पाते। इसका क्या कारण

है ? आत्मसयम का अभाव । ऐसे लोगों को या तो आत्मसयम का पथ ही नहीं दिखाया गया होता, उसका गुण नहीं समझाए गए होते, अथवा वे स्वयं जान बूझकर आत्मसयम से मुह मोड़ते हैं । वास्तव में जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए आत्मसयम अत्यन्त आवश्यक है ।

अध्यापक ने शिष्य से कहा कि देखो कल इतना पाठ अक्षर स्मरण कर लाना । शिष्य याद करने बैठे । इतने में उसे दूसरे बालिका का कोतुहल पूर्ण शब्द सुनाई दिया । उस समय यदि वह आत्मसयम करके पढ़ने में ही मन को लगाता है तो वह सफल है, और यदि पुस्तकें वहीं छोड़ उन्हा में जा मिलता है तो उसकी सफलता असम्भव हो जाती है । रोगी पन्द्रह दिवस के अनन्त नीरोग हुआ । कुछ चटपटी वस्तु विस्ती देख कर ललचा गया । धन अभ्यस कर बैठे और फिर रोग शय्या पर जा विराज । यदि वह आत्मसयम से काम लेता तो कष्ट क्यों उठाता ?

काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविभार मनुष्य के मन पर सदा से अधिकार रखते हैं और अवसर पाते ही अपना प्रभाव दिखाने में नहीं चूकते । ये ही नष्टी के प्रवाह की भाँति बहते हुए मनुष्य-जीवन में अनेक बाधाएँ डालकर उसे मलिन और निराशापूर्ण बनाया करते हैं । इनकी प्रतिद्वन्द्विता में यदि आत्मसयम का सहारा ले लिया जाय तो मनुष्य जीवन की सफलता में मग्ने नहीं रहता । सचमुच इन पर काबू पाना—अपने को घरा में रखना—जगत् को विजय कर लेना है ।

संसारण मनुष्या की तो बात ही क्या, बड़े बड़े सम्राट् भी जब काम के अधीन होकर आत्मसयम को तिलाञ्जलि दे डालते

हैं तब वे जीवन की असफलता की कीच में अवश्यमेव फँस जाते हैं। बहुधा उन्हें अपने जीवन तरु से हाथ धोना पड़ता है। इतिहास इस वान का साक्षी है। अनेक राज्यों और बहुत से राजाओं का नाश और सहार इसी आत्मसयम के अभाव के कारण हुआ। पर जिसने आत्मसयम को अपना माथी बना लिया उसने कभी भी असफलता का मुह नहीं देखा। असफलता तो एक ओर रही उसे आशातीत और निश्चयोत्पादक सफलता ही सफलता मिलती चली गई। छत्रपति शिवाजी का ऐतिहासिक महत्त्व किससे छिपा है? कहा तो एक माधारण मी जागीर और कहा उसके स्थान पर इतना बड़ा महाराष्ट्र-राज्य। कहा थोड़े से मावली और कहा बीजापुर के मुलतान का प्रसह्य दल और औरंगजेब की घन-घटा सो भयावनी मुगल सेना। अफजलगढ़, शाइस्ताणा जैसे दुर्गम्य सेनानियों का सामना करना कोई हँसी-खेल न था। पर वीरवर शिवाजी ने असफलता का कभी नाम भी न सुना। क्यों? क्योंकि उनमें आत्मसयम बूट बूट कर भरा हुआ था। दुर्गों पर विजय पाने के अनन्तर उन्होंने बैरि नारियों को कभी समयहीन दृष्टि से देखा तरु नहीं। यवन-आक्रान्ताओं की मूर्ति आत्मसयम का गला घोटने से उन्हें घृणा थी। जब मरहठों ने कल्याणदुर्ग का जीता तो नीलपन्त ने किले के अध्यक्ष की सुन्दरी कन्या को पकड़कर शिवाजी के सामने भेंटरूप में उपस्थित करके उनका विशेष कृपापात्र बनना चाहा। उस समय पूर्ण-सयमी शिवाजी ने पन्त को बहुत फटकारा और उस कन्या को सुरक्षित उसके पिता के पास पहुँचा दिया। उनकी सफलता के यही तो मुख्य कारण थे।

पति जब क्रोध पर मिलिय पाकर अपनी पत्नी की चूक को क्षान्तव्य समझ लेता है तब उससे जीवनाश्रय में विपाद के मेघ विलीन हो जाते हैं और प्रत्येक काम में सफलता शशिकला के समान छिटक कर आनन्द का स्रोत बहा देती है। वह जिस कार्य में हाथ डालता है, वही काम आपही आप पूर्ण होने लगता है। चारों ओर उसे अपनी जीत ही जीत दिखाई देती है। सासारिक विघ्न बाधाओं का सामना करने के लिये उसमें अपूर्व शक्ति का संचार हो जाता है।

दुकानदार जब लोभ वश निरुद्ध वस्तु देने अथवा कम देने में अपने आपको नहीं रोक सकता तो परिणाम क्या निकलता है ? उसके ग्राहक धीरे धीरे कम होने लगते हैं और तब वह व्यापार-मार्ग का असफल यात्री बन जाता है। इसी प्रकार मनुष्य को मोह, अहंकार आदि वश होकर कई प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ती हैं और उसे पुनः पुनः असफलता का मुह देखना पड़ता है।

जो व्यक्ति इन्द्रियों के दास होते हैं वे सयमी नहीं बन सकते। इन्द्रियाशक्ति के इंगित पर नाचने में और सयमी होने में तम और प्रभाकर का सा अन्तर है। सयमहीन पुरुष सदा उत्साहशून्य, अधीर और अशिवेकी होते हैं, इसीलिये वे अधिकतर असफल रहा करते हैं। आत्मसयमी व्यक्तियों में सर्वदा उत्साह, वैर्य और विवेक भरा रहता है, अतएव उन्हें सर्वत्र सफलता ही उपलब्ध होती है।

काम, क्रोध आदि का सघर्ष उपस्थित होने पर आत्मसयमी होना एक बात है और सघर्ष का अवसर ही न मिलने पर आत्मसयमित्व के भाव में भरे रहना और बात है। वैसे तो सभी

सयमी होने का दम भर सकते हैं, पर समय पडने पर परीक्षा में पूरे उतरने वाले थोड़े होते हैं। युवावस्था, सम्पत्ति और प्रभुत्व पाकर आत्मसयमी होना ही वास्तव में सच्चा आत्मसयम है। जीवन का रस चाट कर अन्तिमावस्था में सयम का दाग भरने से क्या ? पैसों के अभाव के कारण सिनेमा देखने से बञ्चित रहना अपने पर काबू पाना नहीं कहा जा सकता। प्रज्ञा ममाप्त होने पर मद्यपान न करना आत्मसयम नहीं। लोभ के कारणों की अनुपस्थिति में उदारता की भावना से श्रोत प्रोत रहने में क्या बड़ाई ? गली गली के भिरवारी का क्या आत्मसयम और क्या न आत्मसयम ?

कुछ लोगों का आगे पीछे नहा, समय पडने पर, यह भी मत हो जाता है कि आत्मसयम की कोई उपादेयता नहीं, क्यों न मन माना आनन्द उठाया जाय ? पर जैसे ही वे उससे आगे बढ़ते हैं और उन्हें अपने जीवन के तेराश्र और ह्रास का नगा चित्र दिखाई पड़ता है, उनकी आँखें खुलती हैं और उन्हें प्रलोभनों की गहरी खाई की वास्तविकता और आत्मसयम की आवश्यकता का भान हो जाता है। सूर्य की किरणों से चमकती हुई मिट्टी में पड़ी पान की पीक को जत्र एक मार्ग चलने वाला इसे रख समझ करबठा लेता है तो उसके मन की जो दशा होती है उसे मुक्त-भोगी ही जान सकते हैं।

आत्मसयम की कहा आवश्यकता नहीं ? विद्यार्थी जीवन की सफलता आत्मसयम के बिना स्वप्नमात्र होती है। असयमी छात्र प्रथम तो कभी सफल ही न होंगे, यदि कुछ हुए भी तो अधम कोटि में। वे न अपना कुछ बना पाते हैं और न ही माता पिता, गुरु और देश का नाम उज्ज्वल कर सकने में समर्थ होते हैं। आकाश-पाताल को मिला देने वाली धारा प्रवाह बकृताओं से



श्रोताओं के हृदयों को मरकाट कर उन्हें अपने नेतृत्व की छाया तले लाने वाले असयमी नेताओं का प्रभाव चिरस्थायी किमने देखा है ? उन्हें कभी सफलता भी मिली है ? वे तो स्वयं नलदल में फँसे हैं, दूसरों को क्या उबारेंगे ? जरा आँखों से ओभल हुए कि जनता ने उनकी संयमहीनता को लक्ष्य कर कटाक्ष करना आरम्भ कर दिया। उनका मारा प्रभाव कर्पूर की तरह उड़ जाता है और वे असफलता के समुद्र में डूब कर विलुप्त हो जाते हैं।

आत्मसयम के रहते जिस घोर से ससार काँपा करता है, सयम छोड़ने पर उसी व्यक्ति की सत्ता जगत् में नृणावत् हो जाती है। एक भीमकाय पुरुष से सारा नगर धरोता है, उसकी बात को टालने की किसी में हिम्मत नहीं होती, आवश्यकता पड़ने पर वह अकेला चालीस पचास वीरों का भी सामना कर सकता है, पर वही जब रात को चोरी करने निरुलता है तो डर के मारे उसके हृदय की गति तेज हो जाती है, उस समय एक धालक का शब्द भी उसे भगा देने को पर्याप्त होता है, उसकी सारी शक्ति संयमहीनता द्वारा अपट्टत हुई होती है। होते होते वही व्यक्ति कापुरुष बन कर असफलताओं का केन्द्र बन जाता है। पीछे उसे पता चलता है कि मैंने सयम को खोकर अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया है, मेरा जीवन निष्फल है।

जातियों का उत्थान और पतन व्यक्तियों के आत्मसयम पर ही अवलम्बित है। ज्यों ज्यों किसी जाति के लोगों में सयम घटता जाता है, उनमें कर्तव्य पालन की क्षमता आती जाती है, उन्हें विषय-वासनाएँ और प्रलोभन अपने गन्तव्य पथ से विचलित नहीं कर सकते, उनके शत्रु उन्हें पतित करने के लिये छटपटाया

करते हैं, किन्तु कुछ कर नहीं पाते। इस प्रकार वे बढ़ते ही चले जाते हैं और एक दिन जाति उन्नति के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो जाती है। उनका देश स्वतन्त्र, सुखी और समृद्ध हो जाता है। दूसरी ओर जैसे ही किसी जाति के लोगों में समयहीनता का समावेश होता है कि उस जाति की गति नाशोन्मुख हो जाती है। दूसरी जातियाँ उस जाति पर शासन किया करती हैं। जरा जरा से प्रलोभनों से उड़ी उड़ी जातियों का पतन इतिहास-वेत्ताओं से छिपा नहीं। राजपूतों की अवनति का कारण आत्मसंयम का अभाव ही तो था। अपनी शक्ति और सामर्थ्य की महान्प्रता में अपनी इच्छाओं के वशीभूत हुए पृथ्वीराज ने जयचन्द्र को अपना शत्रु न बनाया होता तो भारत को पराधीनता का मुल क्यों देगना पड़ता ? दुर्दान्त मुलतानो के पतन का मुख्य कारण संयमाभाव ही बतलाया जाता है। अकबर, जहांगीर और मुगल राजाओं की जड़ खोखली करने में प्रबल हेतु उनकी समयहीनता ही था। मुगल सेना की मिलासिता ने ही अन्त में मुगल साम्राज्य के पतन के गढ़े में ला पटक था। शिवाजी के उत्तराधिकारियों के आत्मसंयमी न होने से इतना मुट्ठ और शक्तिशाली मराठ्ठा-राज्य भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

संयम को छोड़ जय एक भोरा बार बार मन्दिर के नौम में बैठता है तो उसे उस समय मन्दिर का कुछ उस रस में ही अपने शक्ति के स्वरूप रात्रि के सुन्दर दृश्य का तन उसे अपने शक्ति पर पाने के लिये करना चाह

संयम को या तिलाञ्जलि न देने की प्रतिज्ञा करते करते किसी प्रकार समय बिताया करता है। मौभाग्य में यदि कोई दुर्घटना न हो जाय तो प्रातः काल अशुमाली पं. कर-जाल से विक्रमिit उम फूल से उसे मुक्ति मिल जाती है, पर उमकी रमिकता पूर्ववत् ही रहती है। यों ही एक निम्न फूल में बंद हुआ वह अभाग्य किसी मस्त हाथी द्वारा तोड़ कर ग्राह्य हुए उसी पुण्य समत इम जगत् में सदा के लिये मिट जाता है। ठीक यही दशा संयमहीन व्यक्ति की हुआ करता है। सासारिक प्रसोभनों के बशीभूत होकर जब उसे मद्धों और विपत्तियों को सहना पड़ता है तब तो वह पश्चात्ताप करता है और फिर धैर्य न करने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु उसमें मुक्त होने पर फिर वन्हीं वामनाओं में फँस जाता है तथा अनेकों दुःख सहता हुआ कभी या ही काल-अलित हो जाता है।

जब एक मनुष्य पहले पहल भूठ बालता है तो उसे इस बात का निश्चय होता है कि मैंने जान धूम कर अमृत्य कहा है, यदि मैं चाहूँ तो सत्य बोल सकता हूँ और वास्तव में उस समय उसमें सत्य बोलने की शक्ति होती भी है, परन्तु कुछ काल के पश्चात् भूठ बोलना उसकी प्रकृति का एक अङ्ग बन जाता है, फिर उस व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं रह जाती कि वह अपने आपकी भूठ बोलने से रोक सके। इसी प्रकार सदा से पहली बार सुराशन करने वाले को यह भरोसा होता है कि मैं चाहूँ तो मद्य न पीयूँ, किन्तु कुछ दिन बीतने पर सुरा पीना उसमें स्वभाव में आ जाता है और तब वह शराब पीने को विवश हो जाता है। अपनी पडोसिन की निन्दा करने वाली एक स्त्री जब प्रथमवार निन्दा

करती है तो उसे आत्मविश्वास सा होता है कि मैं इस बार ही पराई निन्दा कर रही हूँ भविष्य में पर-निन्दा से अपने आपको बचा सकूंगी, किन्तु जब फिर समय आता है तो वह समय खो बैठती है और परापवाद किण्विना रह नहीं सकती । उपयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मसयम कोई साधारण वस्तु नहीं है कि कोई जब चाहे उसे उपयोग में ला सके । यह तो अभ्यास से प्राप्त होता है । छोटी छोटी बातों में जब आत्मसयम का अभ्यास किया जाय तब इसकी सिद्धि होती है । चारों ओर से सुनाई पड़ने वाली असफलता और निराशा की ध्वनि का मूल कारण जरा जरा सी बातों में आत्मसयम का अभाव ही तो है । मार्ग में जाती हुई मा बहिनों की ओर ताके बिना न रह मरने वाले प्राणी यदि जीवन में निराश न हो तो क्या हो ? जो अपनी चक्षुरिन्द्रिय को ही बश में नहीं रख सकते वे मन पर कैसे प्रभुत्व पा सकेंगे ? जिह्वा के स्वाद में जो निचलित हो बैठते हैं उनसे बड़ी बातों में आत्मसयम की आशा दुराशामात्र है ।

“आत्मसयम के लिए अभ्यास किसी निश्चय समय पर नहीं किया जाता । इसके लिए तो मनुष्य ही प्रयत्नशील रहना पड़ता है । आपको भूल लग रही हो, आपका छोटा भाई भी भोजन करने के लिए तत्पर हो, आप उस समय उसे पहले भोजन करने दीजिए, आत्मसयम का यह ‘अ, आ’ है । घर के पास कुछ आश्चर्यजनक दर्शनीय वस्तु आई, आपके कानों में उसकी भनक पड़ी, यदि आप उसे देख लें तो कुछ बिगड़ता नहीं, पर उस समय अपने आपको रोकिये, उसे मत देखिये, इससे आपमें आत्मसयम की एक विशेष शक्ति का संचार होगा । छुट्टी का दिन



विद्याए पढ़कर भी यदि मनुष्य में विनयशीलता न आई तो उसका पढ़ना व्यर्थ गया। शिक्षा पाकर भी अविनयी रहने से तो अशिक्षित रहना ही उत्तम कहा जा सकता है। सही विद्या नम्रता की उत्पादिका होती है। एक विद्वान का कथन है कि विद्या से विनय की प्राप्ति होती है, विनय से व्यक्ति सत्पात्र बन जाता है, पात्र व्यक्ति के पास धन-सम्पत्ति का आगमन होता है और फिर धर्माचरण करता हुआ वह व्यक्ति सुख से जीवन व्यतीत करता है।

गुरु और श्रात्र दोनों नम्रता के उपासक होने चाहियें। नम्र गुरु से शिक्षा प्राप्त करने वाला शिष्य उत्साह और भक्ति से पूर्ण रहता है। दुरुह से दुरुह विषय भी उमके लिये अत्यन्त सुगोचर और शीघ्रगम्य हो जाते हैं। उधर विद्यार्थी की नम्रता उसे शीघ्र से शीघ्र विद्या प्राप्त करने योग्य बनाती है। विनयी शिष्य को अध्यापक बड़े प्रेम और मनोयोग से शिक्षा देता है, उससे कोई बात छिपा नहीं रखता। इस प्रकार दोनों ओर से सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। एक ओर भी नम्रता का अभाव हो तो कभी भी पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती।

स्त्री जाति में नम्रता एक स्वाभाविक सा गुण है। विनय की पूर्णता नारियों में ही दृष्टिगोचर होती है। सन्तान के लालन पालन में, उसे सुशिक्षित करने में और उत्तम स्वभाव तथा गुणों से युक्त बनाने में माता का सत्र से अधिक हाथ होता है। माता में यदि नम्रता का अभाव हो तो सन्तति कभी भी योग्य नहीं बन सकती। प्राथमिक संस्कार मनुष्य-जीवन की नींव होते हैं।

यह एक सुदृढ़ ढाल है । यह सफलता, धन प्राप्ति, सुख और शान्ति की अनोखी कुञ्जी है । महात्मा विदुर ने कहा है कि 'क्रूर मनुष्य की कमाई लक्ष्मी शीघ्र नष्ट हो जाती है और नम्रता से सञ्चित धन का पुत्र पौत्र उपभोग करते हैं । दूसरे को स्ववश करने का यह मूल मन्त्र है । उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए पक्की सीढ़ी है । एक कवि का कहना है कि मनुष्य की गति नल-जल के तुल्य होती है । जिस प्रकार नलके का पानी मूल स्थान पर ऊँचाई से जितना नीचे की ओर जाता है ओगे नलके में आकर वह उतना ही ऊपर चढ़ता है, इसी प्रकार इस ससार में मनुष्य जितना नम्र होकर चलता है, उतना ही वह उन्नत होता है ।

गोपालचन्द्र देव

## आनन्द की ओर

अरे ! मिट्टी का मोर तू क्या करेगा ? अवश्य लेगा ! आनन्द आयगा, अच्छा, ले ले । अब भी उसी से खेल रहा है । तुझे इसके साथ बड़ा लगाव है, उसका साथ नहीं त्यागता । ठीक ! उसे भी दूध पिला रहा है । खूब ! बड़ी प्रीति है । यह तो, चूर चूर हो गया न ? पेर अटक गया था । कोई चिन्ता नहीं, और मिल जायगा ।

लो, देखो, कितना सुन्दर एक और मिट्टी का मोर है । क्यों जी ! देखते ही नहीं उधर कहा ध्यान है ? यह मोर तुम्हारा प्यारा और दुलारा है । इससे तुम्हारे आनन्द का पारावर नहीं रहा करता । वही तो है ! न लूगा । कुछ नहीं । मिट्टी का है । गेन्द-बल्ले में इसकी क्या आवश्यकता । गेन्द-बल्ला ही लूगा, खेलते हुए बड़ा आनन्द आता है । हा हा ! यह मिट्टी का मोर और मैं ! छि ! शर्म लगती है !

हैं ! मैं भी विचित्र हूँ ! मदा गेन्द-बल्ले के ही पीछे पड़ा रहता था । तभी चोट लगी है न ! कभी न खेलूंगा ! कभी न हाथ लगाऊँगा बाजार में चाट खाने में बड़ा मजा आता है । इतना आनन्द ! आ हा ! मन गुदगुदाता है ।

खूब चाट खाई ! जरा स्वाद नहीं ! कैसे व्यर्थ जाते हैं ! शरीर की पुष्टि भी नहीं होती । तभी तो लोग मास ! चखू तो सही अरे ! बड़ा स्वादु है ! बहुत आनन्ददायक है !



नहीं नहीं, सब ढाग है। सब जीम की करामात है। कहता था 'जरा पीलो' क्या हानि है। अधिक न सही नाममात्र की मात्रा। ऐं। है तो आनन्द की वस्तु। पर मैं तो मास में बड़ा आनन्द देखता हूँ। अ॥ ह॥ यह कहा छिपा था? अरे। बड़ी मस्ती आती है। क्या खूब स्फूर्ति मिलती है। जगत् भर का आनन्द एक ओर और यह दूसरी ओर। सममुच यह विजयी है। आहा। कितना आनन्द मिलता है?

मास-मद्य क्या है इस सिनेमा के सामने? वैसे भी देख लिया है छोड़ दिये हैं अब तो धार धार देखने को जी चाहता है। और देखता भी हूँ। आनन्द का माना समुद्र है। वाह। क्या खूब कला है? अब तो कुछ सूझता ही नहीं सिवाय सिनेमा के। सिनेमा का नागा और आनन्द का भएडार लुटा देना एक तुल्य है। कभी न होगा, कभी न होगा।

हा। कभी कभी देख लेता हूँ। अजी, इसमें रक्तराही क्या है? पेने भी दो और आँखें भी गँवाओ। समय की हत्या भी करो। न यह न होगा। मैं नहीं देखने जाऊँगा। छोड़ो, छोड़ो, मुझे घृणा है। आनन्द जाय भाइ मे।

कायापलट सी हा गई। कहा ठोकरे खाता रहा। अध्ययन में इतना आनन्द है। वह तो अभी पता चला। मुह छिपाने तक का नहीं रहा। गणित का एक प्रश्न हल करने में जितना उल्लास है, उतना इतस्तत कहीं न होगा।

पढ़ना लिखना। हाँ, यह कुछ है। पर सारी बात तो उपाधि की है। जिस समय उपाधि मिलेगी। आँहा। आनन्द की परा-काष्ठा होगी। तब आनन्द का अक्षय कोष पूर्ण हो जायगा।

मुझ्मा सुखी दुनिया मे कोई न होगा ।

क्यों रे मन ! कभी तृप्त भी होगा या यो ही चक्र कटवाएगा !  
चार उपाधियाँ मिली हैं और चार ही प्रमाण-पत्र ! अच्छा,  
निकाल कर देख तो उसमें कुछ आनन्द है भी या यो ही प्रतारणा  
थी ! हैं ! इन्हें देखकर तो काध आता है ! जलन उठनी है ! क्या  
इन्हें लेकर चाटूँ ! कब से काम हूँद रहा हूँ, पर कोई काम नहीं  
मिला ! उपाधियाँ मिल गई हैं, कोई कार्य भी मिल जाय तो बड़ा  
आनन्द आए । उस दिन के बाद फिर आनन्द ही आनन्द होगा ।

पर मेरा सोचा तो अयथार्थ निकला । मन्ना आनन्द तो मित्रों  
मे है । काम मिल गया है, सो रुपये तीस दिन के बाद मिल जाते  
हैं, अच्छा है । पर आनन्द मनाने का भी तो कोई साधन होना  
चाहिये । तभी तो मित्र बनाए हैं । प्रति दिवस उनक यहाँ जाता  
हूँ । हास-परिहास मे बड़ा आनन्द आता है ।

यह हास-परिहास ही क्रिया करोगे या कुछ स्थायी आनन्द  
का भी सामान जुटाओगे । हा, हा, ले आओ, ले आओ । तारा तो  
महदानन्द दायक खेल है ।

मित्र ! भई ! तारा बच्चों का खेल है ! शतरंज चौपट आदि  
कुछ आरम्भ करो, भली भॉति दिल भी बहले ! वाह वाह !  
शतरंज वास्तव मे शाही खेल है ! बड़ा आनन्द आता है । भोजन  
ठहर कर करूँगा । एक बाजो हो ले । मत बुला, फर्ची पिट रहा  
है । लो भई, शह ।

न न, कुछ नहीं ! लडाई-झगडा हो जाता है । भ्रमण में  
हृदय बहुत आनन्दमग्न होता है । कभी इस पर्वत पर और कभी  
उस चोटी पर जाकर जब चारों ओर दृष्टि दोडार्ड जाय चित्त में

कुछ न कुछ अवश्य बचाना चाहिये। जीवन में अनेक ऐसे अवसर आ पड़ते हैं, वइ आकस्मिक दुर्घटनाएँ हो जाती हैं, बहुत बार रोग और अन्य शारीरिक आपत्तियाँ आ घेरती हैं, यदि पहले से मितव्ययिता का आश्रय न लिया गया तो मानापमान का कुछ ध्यान न कर इधर उधर हाथ फेलाने पड़ते हैं। उस समय सहायता मिलनी कठिन हो जाती है। मिल भी जाय तो मनुष्य ऋण के बन्धन में ऐसा जकड़ा जाता है कि आयु पर्यन्त अथवा पर्याप्त काल के लिये उस से मुक्त होने में नहा आता। जो मितव्ययी नहीं हैं, वे प्रायः दूसरों के कर्जदार रहते हैं। ऋण से बढ कर कोई दुःख और सकट नहीं है।

जिन्हें अपव्यय करने का स्वभाव पड जाता है वे सहस्रों और लाखों रुपयों को अल्पकाल में ही स्वाहा कर देते हैं, पूर्वजों की गाढ़े पसीने की कमाई को यों ही गवा बँटते हैं। अक्षय सम्पत्ति भी फिजूलग्यर्च लोगों की फिजूलखर्ची को सदा नहीं निभा सकती। आज तक सहस्रों की जीविका जिनके आश्रित थीं वे ही अपव्यय के कारण कल दूसरा के सामने झोली फेलाए गबडे होंगे। द्वार द्वार से धक्के और ठोकरें ग्राकर घृणा के पात्र बन जाएंगे। जीवन दूभर हो जायगा। जब लक्ष्मी-पुत्रों की भी यह अवस्था हो जाती है तो निर्धना तथा थोड़ी पूँजी वालों के लिये अपव्ययी होना तो मानो स्वयं अपना शत्रु बनना, अपने पाप पर आपही कुल्हाली मारना है। गरीबों को तो अपव्यय का स्वप्न भी नहीं देखना चाहिये, नहीं तो शीघ्र ही भूखे मरना होगा। इन्द्रियों के स्वाद की पूर्ति के पीछे उनका सर्वनाश हो जायगा। दरिद्र का जीवन एक तपस्या का जीवन है। वे ही समस्त-वृत्त कर

स्वर्च न करें तो और कौन करेगा ?

अपव्यय के मुख्य चार प्रचार हैं। एक व्यसनो के अधीन होकर, दूसरा स्वार्थ के लिये या नाम फमाने के लिये, तीसरा ईर्ष्या-द्वेष से और चौथा साधारणतया। मद्य, अफीम, भग, राजा चरस, तमाकू आदि के सेवन में, रेस मटे आदि जूए तथा साधारण जूए में और वेदवागमन आदि दुराचारा में लाखों रुपयों की प्रतिष्ठा फिजूलगर्ची होती है। स्वार्थ पूरा करने के लिय घूम का बाजार खूब गर्म है। इस उत्कोच ने लोगों को कहीं का नहीं रखा। गाम क पीछे, अथवा, नाक ट बट जाय, इस धर में सामाजिक अपव्यय अत्यन्त भयङ्कर है, विवाहा में निम्न प्रकार का अपव्यय होता है, वह किसी से छिपा नहीं, समाज की अन्य अच्छी या बुरी प्रथाओं में मितव्ययिता की जेमी धमर तोड़ी जाती है उसे नीपक लेकर दूढ़ने का आवश्यकता नह। व्यापारिक दृष्टि को जाने दीजिये, शान निखाने के लिये बड़ी बड़ी अट्टालिकाएँ बनाने वाले फिजूल गर्च नहीं तो और क्या हैं ? कहान्त भी प्रसिद्ध है कि 'वनिये की कमाई, व्याहा और मफा' ने रखा है। ऐसे उद्भुत से अपव्ययियों का हमने थोड़े ही समय क पश्चात् दीवाला पिटते देखा है। दिग्गवे और शान के लिए घरों पर भी कुछ कम अपव्यय नहीं होता। अति हो जाने पर आभूषण भी फिजूलस्वर्च के अन्तर्गत आ जाते हैं। म्यूनिसिपल चुनाव में, आपस की ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता में सहस्रा रुपयों पर पाती फेर देने वालों की सरख्या आज कम नहीं है। द्वेष की तो कुछ पूछो ही मत। द्वेष क पीछे यदि अपव्यय न

में ध्यान न देना, विदेशी चीजों को प्रयुक्त करना और विदेशी वस्तुओं का व्यापार करना पशुत्व का समर्थन करना है।

युद्ध का नाम सुनते ही वीरता के भावों से भरपूर हो जाना मनुष्यत्व है और कायर बन कर छिप जाना पशुत्व। सेनापति को मरत या घायल होत देखकर भी रण में डटे रहना मनुष्यता है और वहाँ से लोमड़ी की भँति भाग जाना पशुता। देश प्रेम से देश पर बलिदान होने वाले वास्तव में मनुष्य हैं और देश द्राही तथा आक्रान्ता से मिल जाने वाले पशु से भी गये गुनरे। मनुष्यत्व पे इच्छुक अपने देश में अपना ही राज्य रखते हैं और पशुत्व के प्रमी दूसरों के अधीन हान्तर भी रगरलिया मनाते हैं। शत्रु की भयकर सेना का सामना करना, तिल तिन कटाने के लिये तैयार हो जाना मनुष्यता है और इस ओर स उदासीन रहना पशुता। अपनी स्वतन्त्रता बचाने के लिये उद्यत होना और दमने

की स्वतन्त्रता का १६२-  
हवाई-जहाजों, गैसों, फूटनी  
पशुत्व है। मिलकर चलना,  
मिलकर गाना, इकट्ठे से  
रस्त्र पहनना मनुष्यता है,  
पशुता है। फूट के कीटाणु  
और फूट से प्रेम पशुत्व।

ब्रह्मचर्य, पातिव्रत्य  
जीवन की बाधाओं का  
कहा जा सकता है।  
है। जीवन की

त्रिमुख होना मनुष्यत्व नहीं कहा जा सकता ।

पशु को पाध कर रखना पड़ता है, क्योंकि वह निरकुश है, चाहे जहा तहा चला जाता है, इधर-उधर मुह मार देता है । मनुष्य को भी म्या इस प्रकार निरकुश बनकर दूसरा का बन्धन स्वीकार करना चाहिये ? इससे म्या उसका मनुष्यत्व रह जायगा ? पशु के गले की रज्जु को एक हाथ में पकड़ कर और दूसरे हाथ में एक लकड़ी लेकर उसे जहा चाहे हाक कर ले जाओ । जिन लोगों का इसी प्रकार होंके जाने का स्वभाव पड़ गया है, जिन्हें कोई भी जिधर चाहे ले जा सकता है—लगा मरता है, उन्हें भी पशु ही कहा जायगा । पशु को चाहे नितना मारो, चाहे नितना उसका अपमान करो, पीछे खाने को दे दो, वह पूँछ और कान हिलाने लगेगा । ऐसे नर पशु भी बहुत से मिलेंगे जो कुचले जाने और अपमानित होने पर भी जरा सी वस्तु मिलने पर चट सन्तुष्ट और प्रसन्न हो जाते हैं । कुत्ते को नितनी ही ताड़ना देने के बाद उसके सामने एक टुकड़ा टाल दो, वह भट से मार पीट को भूलकर उसे खाने लगेगा । यदि हम भी ऐसे ही हैं तो हम कौन हैं, इसे स्पष्ट पहने की आवश्यकता नहीं । पशुओं में भी कई पशु मार पीट और अपमान को नहीं सहते । वे कई दिन तक निराहार रहते हैं । कई पशुओं ने तो प्राण तक त्याग दिये, ऐसा सुना जाता है । पर इस प्रकार के पशु मनुष्य कोटि के हैं । उनमें मनुष्यत्व का समावेश है, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

जापान वाले भी बड़े चतुर हैं । चुट्टी के भय से वे कपड़े फट्टे बना धना कर भेजते हैं । आजकल 'कटपीस' के क्रय विक्रय

का बड़ा जोर है। सैन्डो दुकानें इसी जपानी 'कटपीस' व व्यापार के लिये गुल गई हैं। सहस्रो फेरी वाले कपड़ा घर घर पहुँचा आते हैं। स्त्रियो ने बड़ी 'बुद्धिमत्ता' से ऐसी सस्ती वस्तु का पता पा लिया है। एक-दूसरी को ऐसे ऐसे 'फेन्सी' वस्त्र पहने देख उससे भी अधिक 'फेन्सी' कपड़े को ढूँढ ही लाती हैं। पुरुष भी किमी से पीछे नह। पर यह सच क्या है? भेडाचाल—पशुत्व का चीता जगता चित्र, मनुष्यत्व के सहार की पराकाष्ठा। 'एक पडा जेहि 'गड्ड' में सबे जाहि तेहि घाट' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। मोच समझ कर, हानि-लाभ देखकर, उपयोगिता अनुपयोगिता का विचार कर जो काम किया जायगा वह मनुष्यत्व कहलायगा, इसके अभाव में पशुत्व से कम नहीं।

पशु जहाँ स्थान मिला वहाँ बैठ जाते हैं, जिस पशु का साथ हुआ उमी के सङ्ग हो लेते हैं। कूड़ा मरकट, गोबर कीच आदि, की उन्हें कुछ परवाह नहीं होती, भल घुरे स्वभाव का उन्हें कुछ ध्यान नहीं होता। पशुओं की भोंति स्थानास्थान, परित्रता-अपरित्रता का ध्यान न रखने वाले और अच्छे घुरे की पहचान न किये बिना सगति करने वाले लोग मनुष्यत्व से कोसों दूर हैं। मनुष्य सत्सङ्गति से मनुष्य और कुसङ्गति से पशु बन जाता है।

अन्तर्दृष्टि का मनुष्यत्व से गहरा सम्बन्ध है। अध्यात्म-चिन्तन से मनुष्य पशुत्व में हटकर मनुष्यत्व की ओर प्रवृत्त होता है। केवल माया और प्रकृति का उपामन पशुत्व को हृदय से चिपटाय हुए हैं। ऐसे व्यक्ति के पास दोषा से बचने का कोई मार्ग नहीं होता। उसे भूठे आरूपणों से सुरक्षित रहने के लिये कोई उपाय नहीं सूझता। पशुत्व प्रधान व्यक्ति भी यदि प्रतिदिन

थोड़ा सा समय अपने कृत्यों पर निष्ठापात करने में व्यतीत करे तो बसरी पशुत्व की कालिमा धीरे धीरे धुलने लगेगी।

मनुष्यत्व और पशुत्व का बड़ा भारी सचरं है। इनका द्वन्द्वयुद्ध निरन्तर होता रहता है। कभी यह जीतता हुआ दिग्गड्डे बैठा है और कभी वह। मनुष्यत्व के प्रबल होने पर उत्तमोत्तम कार्य होने लगते हैं और पशुत्व के शक्तिशाली होने पर निवृष्ट कार्य।

मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व है। पशु का धर्म पशुत्व है। अपना धर्म छोड़ पराण निवृष्ट धर्म को अपनाने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी। मनुष्यत्व से जीवन निर्वाह की योग्यता उत्पन्न होती है, व्यक्तित्व बढ़ता है और सुख तथा समृद्धि की प्राप्ति होती है। शान्ति और स्वतन्त्रता कभी साथ नहीं छोड़ती। पशुपन को स्वीकार करने से जीवनचर्या चरितार्थ नहीं हो पाती, व्यक्तित्व उत्पन्न ही नहीं होता, जो कुछ पहले से होता है वह भी नष्ट हो जाता है और दुःख तथा दरिद्रता का एकच्छत्र राज्य हो जाता है। अशान्ति पशुत्व का प्रसाद है। मनुष्यत्व रहित लोग शीघ्र परतन्त्र हो जाते हैं। इसलिए मनुष्य को मनुष्यत्व का—अपने धर्म का—ही आश्रय लेना चाहिए, पशुत्व का नहीं।



का पडा जोर है। सफ़्फ़ो दुकान डमी जापानी कटपीस' के व्यापार के लिये खुल गई हैं। सहस्रो फर्री वाले कपडा घर घर पहुँचा आने हैं। मिर्यों ने बड़ी पुद्धिमत्ता से ऐसी सस्ती वस्तु का पता पा लिया है। एक-दूसरी को ऐसे ऐसे 'फेन्मी' वस्त्र पहने देख उससे भी अधिक फेन्सी कपडे को ढूँड ही लाती है। पुरत भी किसी से पीछे नहा। पर यह सब क्या है? भेडाबाल—पशुत्व का नीता जागता चित्र, मनुष्यत्व के सहार की पराकाष्ठा। 'एक पडा नेहि 'गड्ड' में सने जाहि तेहि वाट' वाली कहावत चरितार्थ हा रही है। साच ममक कर हानि लाभ देखकर, उपयोगिता, अनुपयोगिता का विचार कर ओ काम लिया जायगा वह मनुष्यत्व कहलायगा, इसके अभाव में पशुत्व से कम नहीं।

पशु जहाँ स्थान मिला वहा बैठ जाते हैं, जिस पशु का साज हुआ उमी क सङ्ग हो लेते हैं। बूडा फरकट, गोनर कीच आदि की बन्हे कुत्र परगाह नहीं होती, भले बुरे स्वभाव का उन्हें कुत्र ध्यान नहीं होता। पशुआ की भौंति स्थानास्थान, पवित्रता-अपवित्रता का ध्यान न रखने वाले आर अच्छे बुरे की पहचान नित्ये नित्य सगति करने वाले लोग मनुष्यत्व से कोसों दूर हैं। मनुष्य सत्सङ्गति ॥ मनुष्य और कुमङ्गति से पशु बन जाता है।

अन्तर्दृष्टि का मनुष्यत्व में गहरा सम्बन्ध है। अध्यात्म-चिन्तन से मनुष्य पशुत्व से हटकर मनुष्यत्व की ओर प्रवृत्त होता है। फल माया और प्रकृति का उपामक पशुत्व को हन्य से चिपटाय हुआ है। ऐसे व्यक्ति के पास दोष से बचने का कोई मार्ग नहा होता। उसे भूठे आकर्षणों से सुगन्धित रहने के लिये कोई उपाय नहीं सूझता। पशुत्व प्रदान व्यक्ति भी यदि प्रतिदिन

थोड़ा मा समय अपने कृत्यों पर नष्टिपात करने में व्यतीत करे तो उसकी पशुत्व की कालिमा धीरे धीरे धुलने लगेगी।

मनुष्यत्व और पशुत्व का घड़ा भारी सघर्ष है। इनका द्वन्द्वयुद्ध ग्नि रात होता रहता है। कभी यह जीतता हुआ दिग्राई देता है और कभी वह। मनुष्यत्व के प्रजल होने पर उत्तमोत्तम कार्य होने लगते हैं और पशुत्व के शक्तिशाली होने पर निरुष्ट कार्य।

मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व है। पशु का वर्म पशुत्व है। अपना वर्म छोड़ पराण निरुष्ट धर्म को अपनाने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी। मनुष्यत्व से जीवन निर्वाह की योग्यता उत्पन्न होती है, व्यक्तित्व बढ़ता है और सुख तथा समृद्धि की प्राप्ति होती है। शान्ति और स्वतन्त्रता कभी साथ नहीं छोड़ती। पशुपन को स्वीकार करने से जीवनचर्या चरितार्थ नहीं हो पाती, व्यक्तित्व उत्पन्न ही नहीं होता, जो कुछ पहले से होता है वह भी नष्ट हो जाता है और दुःख तथा दरिद्रता का एकच्छत्र राज्य हो जाता है। अशान्ति पशुत्व का प्रसाद है। मनुष्यत्व-रहित लोग शीघ्र परतन्त्र हो जाते हैं। इसलिए मनुष्य को मनुष्यत्व का—अपने धर्म का—ही आश्रय लेना चाहिए, पशुत्व का नहीं।

गोपालचन्द्र देव

## रस

मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय—पदार्थों में ये छ रस होते हैं। जिनका आस्वादन रमना का विषय है। रस पानी को भी कहते हैं। रस एक ओषधि भी है। गन्ने का रस बड़ा स्वादिष्ट होता है। पर इस लेख में उस रस से प्रयोजन है जिसका आगार मन है, जो भाव को आश्रित है। किसी वाक्य को सुन कर या अभिनय को देखकर हृदय में जा अकथनीय आनन्द उत्पन्न होता है उसे रस कहते हैं। रस काव्य की आत्मा है।

कवि अपनी बुद्धि से, कल्पना से और अनुरक्ति से काव्य की सृष्टि करता है। बुद्धि, कल्पना, अनुराग ये तीन तत्त्व काव्य के प्राण हैं। ये तीनों तत्त्व इतने मिले-जुले होते हैं कि इनका विभाग करना असम्भव सा है। प्रतिदिन भिन्न-भिन्न पदार्थों को देखने से मन में विचारों का एक कोश इकट्ठा हो जाता है और बुद्धि परिष्कृत हो जाती है। उसे जब एक कवि अपनी चातुरी से प्रकट करता है तो काव्य की सृष्टि होती है। इसका अतिरिक्त जो बात कहीं दिखाई नहीं देती, कवि का हृदय उनकी कल्पना करके काव्य का निर्माण करता है। इसका भाव अतिरिक्त भावों की प्रधानता से भी काव्य की रचना होती है।

मान चार प्रकार के होते हैं। स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और मञ्जारीभाव। जो भाव मनुष्य के मन में सदा विद्यमान है

उन्हे स्थायीभाव कहते हैं। जैसे—हँसी, क्रोध। जिसके सहारे भाव प्रकट होता है उसे आलम्बन विभाव और जिसके सहारे उद्दीप्त होता है उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। विभाव के द्वारा मन में उत्पन्न हुए विकार से शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है उसे अनुभाव कहते हैं, जैसे—स्वरभंग, कम्प आदि। जिन भावों से स्थायीभावों की पुष्टि होती है उन्हें सञ्चारीभाव कहते हैं, जैसे—निर्यद ग्लानि आदि। ये चारों भाव मिल कर रस को प्रकट करते हैं।

कुछ विद्वानों का सिद्धान्त है कि रस उत्पन्न होता है। अनेक आचार्य रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, उत्पत्ति नहीं। पर स्थायी भाव की नित्यता को सभी स्वीकार करते हैं। रस की चाहे अभिव्यक्ति कहो चाहे उत्पत्ति। उमका मूल तो पहले से ही विद्यमान है। एक विद्वान् का कथन है कि—

“स्थायी भाव, विभाव के सहारे उत्पन्न और पोषित हो कर अनुभाव रूपी वृक्ष बनता है। फिर संचारी फूल के समान क्षण क्षण फूल कर इन सब के संयोग से मकरन्द रूप रस बनता है। जो कि मधुप रूपी कणियों का जीननावार होता है।”

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्थायी भाव का परिपाक ही रस है। इतना ध्यान रखना चाहिये कि अभिनय करने वाले को और काव्य निर्माण कर्ता को चाहे रस का अनुभव हो या न हो दर्शक और श्रोता या पाठक का हृदय ही रस की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति का मुख्य स्थान है।

साहित्य के आचार्य ने नौ रस माने हैं—शृङ्गार, हास्य, भयानक, वीरत्स, अद्भुत और शान्त। इनके नौ भाव माने हैं—रति, हँसी, शोक, क्रोध,

तत्सम्बन्धी वस्तुओं का दर्शन उद्दीपनविभाव हैं। स्वेद, म्वरभग, विवर्ण आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, मीनता, चिन्ता, मोह, जडता, विषाद, व्याधि, मरण आदि संचारीभाव हैं।

रोद्र—‘रोध’ इसका स्थायीभाव है। शत्रु या अनिष्टकर्ता आलम्बन विभाव हैं। उनका गर्व से बोलना, फटाक करना, प्रहार करना या ललकारना उद्दीपन विभाव हैं। नेत्र लाल होना, घँत फटफटाना रोद्र के अनुभाव हैं। गर्व, कोप, उग्रता, कम्प आदि संचारीभाव हैं।

वीर—‘उत्साह’ इसका स्थायीभाव है। प्रतिनायक इस्मना आलम्बन है। उसकी विरोधी क्रियाएँ उद्दीपनविभाव हैं। अर्ज पडकना, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। गर्व, असूया, मति प्रीति, हृष, धृति आदि संचारीभाव हैं। ‘रोद्र’ में कम्प और क्रोध होता है ‘वीर’ में नहीं, दोनों में यह एक विशेष भेद है। वीरता कई प्रकार की है—दानवीरता, युद्धवीरता, दयावीरता, सत्यवीरता। कुछ लोग निरुद्धवीरता में भी स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका मत सर्वसम्मत नहीं।

वीमत्स—‘ग्लानि’ इसका स्थायीभाव है। रक्त, मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदि वस्तुएँ आलम्बनविभाव हैं। इन वस्तुओं का वर्णन या इनकी दुर्गन्धि अथवा दृष्टे फलाना आदि उद्दीपन विभाव हैं। थूकना, छि छि करना, गर्दन हिलाना आदि अनुभाव हैं। अपस्मार, व्याधि आदि संचारीभाव हैं।

अद्भुत—‘आश्चर्य’ इसका स्थायीभाव है। आश्चर्य-उत्पादक वस्तुएँ आलम्बनविभाव हैं। उन वस्तुओं का दृग् से वर्णन आदि उद्दीपनविभाव हैं। रोमाञ्च, कम्प आदि अनुभाव हैं। शम्भ,

उत्सुकता, चिन्ता तर्क, चपलता हर्ष आदि संचारीभाव हैं।

शान्त — 'निर्जद' इसका स्थायीभाव है। वैराग्य उत्पन्न करने वाले पदार्थ या घटनाएँ आलम्बन हैं। उन पदार्थों या घटनाओं का धार धार होना आदि उद्दीपन विभाव हैं। गहरी साँस लेना, कोंपना आदि अनुभाव हैं। निर्जद प्रीति, स्मृति, धृति आदि संचारीभाव हैं।

क्रमशः रसा का एक-एक उदाहरण दिया जाना है—

शृङ्गार

मज्जु उरोज सरोज कली सां लगी उर ज्यों भुज में भुज लाइ ।  
एकहि सग अनेक प्रकारनि प्रेम के रग उमग रचाइ ॥  
भीची मनो मम अग-स्वचा, हिम आनि सां शीतल औ सुगदाई ।  
चन्द्रक, चन्दन, चन्दरकान्त—पसेव, सिराल, मृनाल, मिलाइ ॥

—सत्यनारायण

हास्य

पिल्ला लीन्हे गोद में, मोटर भई सवार ।  
अली भली धूमन चलीं, किए समाज सुधार ॥  
किये समाज सुधार हवा चोरप की लागी ।  
शुद्ध विदेशी चाल ढाल साँ मति अनुरागी ॥  
मिया मचावै शोर करें अब तोया तिला ।  
पूत घाय के गोद खिलावे बीबी पिल्ला ॥

—अन्नपूर्णानन्द

विरह

भीत गई अब रात, महा तम दूर हुआ है ।  
हैट का कुल हाथ, न चकनाचूर ॥

आन भयकर रूद्र रूप उपवास हुआ है ।

हा ! हम सब का घोर नरक में वास हुआ है ॥—नागार्जुन

रौद्र

अति रिस गोलें वचन कठोरा । कहु जड जनक धनुष कहि तोरा ।  
वेगि दिसाउ मूढ नत आजू । उलटवैं महि जहँ लगि तब राजू ।

—तुलसीदास

वीर ( युद्धवीर )

सेय मुगल पठान, सेय चदायत भच्छन ।

सोम-सूर द्वे बस, रात्र राता रन-रच्छन ॥

इमि 'भूपन' अवरग ओर एदिल गलजगी ।

कुल करनाटक फोड भोट-कुल हनम फिरगी ।

चहुँ ओर घेर महि मेरु लगि, साहितने साहस भलक ।

फिर एक ओर मिश्राज नृप, एक ओर सारी गलक ॥

—भूपन

सत्यवीर

चन्द्र टर सूरज टरें टरे जगत व्योहार ।

पै नृद व्रत हरिचन्द्र को टरें न सतम विचार ॥ —भारतन्दु

दयावीर

दयावम जान्यो तुहीं, सब धर्मनु को सार ।

नृप गिरि । तेरे दान प बलि हैं बलि सौ बार ॥ —नियोगी हरि

धर्मवीर

हैमन्त-हैसत निज धर्म पे दियो जु सीसु चढाय ।

धर्म ममर में मरि भयो अमर हकीकतराय ॥

दानगार

सुस्तन लै कीजै कहा, अरु चिन्तामणि डेर ।

इक दर्धाचि की अस्थि प चारिय फोटि सुमेर ॥

—विद्योगी हरि

मयानक

फाटत फठोर अस्थि पिञ्जर की ग्रन्थिनु जो,

परै किमलीलौ शब्द फड़कि फड़ाक सों ।

नस जाल छेदनु में आतनु के भेदनु में,

गत धम होत है जो कड़कि कड़ाक सों ॥

निरातक धिचरे जो मान-पुञ्ज चीरन में,

जैसे पक-जीरन में सबकि मड़ाक सों ।

यह सोई शब्दग चण्ड तेरे अंग अगनि कों,

गण्ड गण्ड करै आज फड़कि फड़ाक सों ॥

—मत्पनारायण

और भी

फोपत फोपित बेहरी मुहुँ प्राये धिक्कराल ।

रहे धंधकि अगार के प्रलय काल प लाल ॥

—विद्योगी हरि

बीमन

सिर पर घेठयो काग आँख दोउ खात निकारत ।

रौंचत जीमहिं म्यार अतिहि आनंद उर धारत ॥

गिद्ध जोंष कहैं खोदि खोदि के मास उचारत ।

स्वान आगुरिन काटि काटि कै खान विचारत ॥

यहु चील नोचि लै जात लुच मोद भटगो सब को हियो ।



मनु नह्य भोन निनमान कोउ आजु मित्यारिन कहँ दियो ॥

—भातन्दु

अद्भुत

ग्रीसों का सिर काट लिया, ना मारा ना खून किया । —युगो

और भी

सत्ता पशुरियों में फूलों की फूली, फूलों की सत्ता में पाई पशुरिया ।

—शकर

शांत

समझी थीं संयोग को, मन की भूल वियोग ।

आज विवेकानन्द ने दूर किया भ्रमरोग ॥

वस्तु रूप से एक है आकृति जाति अनेक ।

देह देह में जीव का, दीपक तुल्य विवेक ॥

—शकर

रसा में कौन अच्छा है कौन बुरा, यह तो 'दधि मधुर  
मधु मधुरम्' की तरह अपनी अपनी रुचि की बात है ।  
एक शृङ्गार को ही नयानन्द सहोदर समझता है तो दूसरा  
कण्ठ रस से ही आह्लादित होता है तथा तीसरा वीर-रस से ही  
फड़क उठता है । ऐसे भी जन हैं जो शान्त-रस में ही परमानन्द  
मातते हैं । फिर भी माहित्य में शृङ्गार, कण्ठ और वीर रस  
प्रधान हैं । शेष रस इन तीनों के पोषक होते हैं ।

वर्णों और रसों का भी बहुत कुछ सम्बन्ध है । न, म, ल, स,  
आदि शोभल वर्ण शृङ्गार, करुण और शान्त रस में प्रयुक्त  
होते हैं । रोद्र, वीर, मयानक आदि रसा में ट, ड, श आदि कठोर  
वर्णों का प्रयोग करना पड़ता है । द्विजवर्णों का अधिकता से  
शृङ्गार, करुण और शान्त रसा का रस जाना रहता है और

रौद्र, वीर आदि रसों में अधिक शक्ति आ जाती है।

उक्त भाव और रस समाज और जाति के विचारों के अनुकूल ही होने चाहियें। समाज और जाति के विरुद्ध होने पर ये भाव और रस भावाभास और रसाभास हो जाते हैं। पूज्य व्यक्तियों का उपहास, निवृष्ट और अर्थार्थ वस्तु में प्रीति, द्वेष, शाक, उत्साह, भय, शृङ्गार के वर्णन में वीरता की बात, वीररस में शृङ्गार की चेतनह पुष्ट, शाक के साथ हँसी की बात आदि भावाभास और रसाभास के अन्तर्गत हैं। जैसे—

(क) उत गढ़-फाटकर तारि रिपु दोनी लूट मचाय।

इत लपट 'पट तानि सैं परधी तीय उर लाय ॥

इस कविता को पढ़ने या सुनने वाले का हृदय पत्रि के शृष्ट 'वीर' रस की ओर जाने की अपेक्षा कितने व फाटकर को तोड़ कर लूट मचाने वाले शत्रु को दण्ड देने के बन्ने 'पटतानि तीय उर लाय' में ही लीन हो जायगा।

और भी

(ख) करती हैं काम थार की आँखें 'जुलान' का ॥

रस की प्रधानता मन्त्र निपाई पड़ती है। जाति, धर्म, समाज, राजनीति, इतिहास, विज्ञान—सब में रसों का प्रभाव है। जाति की वृद्धि और उत्कृष्टता में शृङ्गाररस का हाथ है। धर्म शान्तरस की अपेक्षा रखता है। समान के लिये हास्य, करुण आदि रसों की आवश्यकता है। राजनीति और इतिहास में वीर रौद्र बीभत्स रसों की प्रधानता है। विज्ञान में अद्भुतरस का समावेश है। इस प्रकार रस सब विषयों में व्यापक है।

पहले कहा जा चुका है कि हृदय में जो अलौकिक आनन्द

प्रकट होता है उसे रस कहते हैं। यदा आशक्त होते हैं कि करुण, वीर्यम आदि रस किम प्रकार आनन्द स्वरूप हैं ? हास्य से जैसे-हँसी आती है वैसे ही करुण से शोक होना चाहिए। यह सत्य है कि इनमें अपना अपना स्थायीभाव प्रकट होता, परन्तु वह भाव देर तक नहीं रहता। करुण आदि रसों का काव्य पढ़ने के पश्चात् जन मनुष्य का हृदय गदगद हो जाता है उस समय वह कह उठता है कि-अहा ! इस करुण-काव्य से आनन्द आ गया। पहले कुछ समय तक चाँदे वह कहणा के स्रोत में रहा हो, पर पीछे वह आनन्दमग्न होकर काव्य की प्रशंसा करने लगता है।

रस द्वारा किसी को उठाया और गिराया जा सकता है। जातियों का पतन और उत्थान में इसका बहुत हाथ है। गृह्यार-रस प्रधान साहित्य में समाज कामुक होकर उत्साह और वीरता से शून्य हो जाता है। जिस साहित्य में वीर रस की प्रधानता होती है उसे पढ़ने वाले पराक्रमी होते हैं। हिन्दी-साहित्य में गृह्यार रस अधिक है। आदि काल की थोड़ी सी अमूल्य कृतियों और भूपण की अप्रतिम रचना को छोड़ वीर रस कम दिखाई पड़ता है। हास्य, करुण आदि रसों की भी बहुत न्यूनता है। प्रत्येक रस में रचना होने लगे तो साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण हो और भिन्न भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के लोग अपनी अपनी इच्छानुसार रस ले सकें।

—गोपालचन्द्र देव

( २४ )

## पूजीपतियों की स्वार्थान्धता ही अशान्ति का कारण है


उठे पड़े प्रासाद, जैसी ऊँची अट्टालिकाएँ अनेक कारणाने, फैल हुए व्यापार, लारों और फराकों की जागीर, चले हुए धक आदि आदि पूजीपतियों के ब्रौड़ा झूल हैं। मनमाना रहन-सहन और स्वेच्छाचारिता का आचरण इनके मुख्य गुण हैं। सम्पत्ति की महान्धता में इन्हें भला बुरा, फलव्य-अफलव्य कुछ नष्टा सूझता। स्वार्थ और लाभ की ये प्रतिमाएँ हैं। निर्धन, दीन, भूख, नगे और पीड़ित जनों का करण-कर्म इनके हाथोंडोल करने में समर्थ नहीं। किसी न किसी प्रकार केवल प्रपत्ति जेब भरने, अपनी इच्छा पूर्ण करने और अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की ही इन्हें चिन्ता है। यड़ी उड़ी फाँठियों और मक्काते के म्यामियों की सेरइों मक्काते से भी वृत्ति नष्ट होती। कारणानों के अधिपति दिन दिन और और फारगाने खोलने की धुन में हैं। यड़ी उड़ी कम्पनियों के मचालकों का पेट भरने में नहीं आता। जागीरदारों पर अपनी जागीरों को निरस्त करन का भूत सवार है। प्रतिदिन सैकड़ों धीमा कम्पनियों और बीसों रेकों में मत्ता और नाश का क्रम चल रहा है। निधर दृष्टि डालो उधर ही पूजीपति अजगर के तुल्य मुँह प्राण हड़पने को गड़े हैं। लारों लोका के जीवन-मरण का प्रश्न इनके हाथ में है। लक्ष्मी इनकी आर सिमटती चली जा रही है।

मर्मागण और गरीबों का रक्त पी पी कर य इतने मतवाल और इतने स्वार्थान्ध हो गए हैं कि इन्हें अब कुछ सूझना ही नहा। लोगों का कराड़ना, स्त्रियों का मन्दन चालकों का मिलनना और मिसकना उनके लिये हँसी-मेल सा है। जेब परतन्त्र रहे या स्वतन्त्र पूजापतियों के लिये एक साधारण जान है। वे तो भोग-विलास और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन जैसे भी व्यतीत करेंगे और बने भी। उनकी प्रभुता उनका स्वदया, उनका प्रभाव, उनका अधिका-यमा ही रहेगा क्योंकि उनके पास धन है। वे पूजा के चल पर सर्वत्र और सब अवस्थाओं में अपनी स्थिति को निगडने नहीं देते।

पूज्यपति या सम्पत्तिशाली होना कोई पाप नहीं, यह ठीक है और यह सम्पत्ति यदि एक के पास न होती तो दूसरे के पास होगी कोई न कोई तो पूज्यपति बनेगा ही। तो जिसके पास सम्पत्ति होगी वही अर्पण करे लेगा, उसका उदारता और दया के भाव उड जायेंगे। यह भी ठीक है। पर पूज्यपति में यदि स्वार्थ के साथ साथ कुछ परमार्थ की भावना भी हो तो वह अशान्ति का कारण नहीं बन सकता। स्वार्थान्ध पूज्यपति तो घोरतम अशान्ति का कारण बन जाता है।

बड़ी बड़ी अट्टालिकाएँ और कोठियों के स्वामी जेब मजदूरों को काम पर लगाते हैं तो क्या मजदूरों देते हैं? नाममात्र। काम निभ भर करना पड़ता है और मिलता इतना है कि वे कुटुम्ब का पेट भी नहीं भर सकते। पूज्य पर आत्मन जमा कर बैठे हुए लोग यह देते हैं—‘इतना लेना है तो लो, नहीं तो जाओ’। उन्हें पता है कि हमारे पास धन है, हमें और अनेक मजदूर मिल जायेंगे।

मजदूर सोचते हैं—चलो थोड़े पैसों में ही काम कर लो, सम्भव है और रुढ़ी कुछ काम मिले या न मिले। परिणाम यह होता है कि सारा दिन काम करने के पश्चात् जब ये घर जाते हैं तो घर की भूमि और अशान्ति की अग्नि उन थोड़े से पैसों से शान्त होने के स्थान पर और भी भडक उठती है।

एक एक कारखाने में सैकड़ों और सहस्रों मनुष्य काम करते हैं। दयालु और परमार्थी कारखानेदारों को छोड़ कर बहुत से कारखाना के मालिक सदा यही सोचते रहते हैं कि हम किस प्रकार लक्ष्मिपति या करोड़ के स्वामी बनें। मजदूरों से काम करवा कर और उन्हें कुछ पैसे दे-दिलाकर शेष सब कुछ हड़पने का विचार उनका पहला मिद्धान्त होता है। अल्प-वयस्क बच्चे और गर्भवती स्त्रियों पर भी उन्हें दया नहीं आती। कोई छुट्टी नहीं, जरा भी अवकाश नहीं। उन मजदूरों का स्वास्थ्य, उनकी शिक्षा, उनका सुख सब एक साथ नष्ट हो जाता है। उनके हृदय अशान्त और निराशा से रहते हैं। अल्पव्रता और अरिवेक के कारण भल ही वे कुछ मस्ती में रहते हों, पर उनके हृदयों के भीतर प्रज्वलित वह अग्नि कभी न कभी उद्दीप्त हो ही जाती है। कारखानों की हड़तालें, ब्रह्म के चलये, उनके बरने—यह सब कुछ उसी द्विपी आग का परिणाम है। चारों ओर अशान्ति की आग धधकने लगती है और वह आग लाठियों, गोलियों, यन्त्रणाओं आदि से भी शान्त नहीं होती। ऐसे कारण—क्या भारत और क्या योरप, क्या एशिया के अन्य दश  अमेरिका—सर्वत्र ही घटित हुआ करते हैं।

स्वार्थ और लोलुपता के यज्ञीभूत हुए पूजापति इस जगत् में क्या कुछ नहीं करते ? वे जगन्मय से जगन्मय कृत्य करने से भी नहीं हिचकिचाते । वे धन के नशे में पापाचरण करने से भी नहीं डरते । उनके बन्धन रहित जीवन का साधारण लोगों पर बड़ा घुरा प्रभाव पड़ता है । धनिकों की देखादेखी निर्धन लोग भी वैसे ही अयुक्ताचरणों में लिप्त हो जाते हैं । अमीरों की भाँति वे भी व्यसना में कम जाते हैं । सर्व-मायागण में स्वार्थ लिप्ता की पराकाष्ठा हो जाती है । यों भी पूजापति अशान्ति फैलाने के साधन बनते हैं ।

कॉमिलों आदि में जान के लिए पूजापति साधारण लोगों में जितनी घुराई फैलाते हैं, लोगों को रूपए की झूठार पर नचा नचा कर अव्यवस्था और अशान्ति के अन्धकूप में जिस प्रकार गिराते हैं वह कोई गुप्त बात नहीं । लोग घुराई की ओर प्रवृत्त होने का पाठ ऐसे ऐसे अवसरों पर ही सीखते हैं । तू-तू, मैं-मैं, गाली गलोज, सिर फुटव्यल और स्थायी बर उनकी पूजा की मदान्धता के प्रत्यक्ष फल हैं इनसे चारों ओर अशान्ति फैल रही है ।

अन्धरी कम्पनिया और सन्चे बैंक भी हैं, पर बहुत सी 'नामी' कम्पनिया और अनेक 'प्रसिद्ध' बैंक धन के बल पर बड़े बड़े और आकर्षक विज्ञापन दे देकर लोगों को अपने भाँते में ल आते हैं, और अपना स्वार्थ पूरा करते जाते हैं । उनका मञ्जालक धरोहर और अमानत को भी नहीं देखते । जो देखा वही अपनी विलास सामग्री और स्वार्थ-साधन वस्तुओं पर खर्च कर दिया । अन्त में भण्डा फूट जाता है और वे दिवालिया

या माने हैं। ये साधारण लोगों की पूजा का दृश्य बर उद्दे नहीं था नहीं छोड़ते तथा अपने घरे अशुद्धता में लोग में बूट पसोड और दूध-मखन के भागों को फेंकाकर सर्वत्र अशान्ति का विनाश कर देते हैं।

जमीरदारों की अपनी जमीन और पृथ्वी को गढ़ने की सामना गृह अशान्ति फैलानी है। मायागण लोगों को तो वे मनुष्य ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में जीव का और गुनी जीवा व्यर्थान्न करने का अतिरिक्त कष्ट नहीं पड़ता है, मायागण व्यर्थियों को नहीं। जिस किसी चीज में भूमि पर अधिकार करना, जमीन को पढ़ना उनका सामान्य धर्म होता है। उनका दिने धोखा, भूट दृष्ट्या आदि पापविपाक उनके चिये एक साधारण बात होती है। स्वाध-भूमि के दिने देने के इशारे पर लोगों का नपाना उनके पाप दाय का स्थान है।

सेवारी और भूय को उपश्र करने और पैचाने में पृथ्वी पतियों की स्मार्थान्विता सर्व प्रभाव कारण है। एक व्यक्ति तो लाखों में पैचता है, सैकड़ों नौकर-प्रावर उसके आगे पीछे चिंत है, और दूसरा शान्त-शान्त को तम रहता है, भूय के बारे उसके प्राण मुह को आ रहे हैं, पास पृथ्वी पीछी भी नहीं इपर-उपर चाल-चलने इदम पेची पुकार पुकार रहे हैं, वहीं कोई काम नहीं, वहीं कोई गुजार का साधन नहीं। एक ही स्थान पर केन्द्रित या तागा को भूय मार रहा है। पृथ्वीपतियों में शान और प्रथा के बुद्ध भी भाव हा तो इतने लोग बेकार न रहे, पृथ्वी की आर्चनाविना लगे, बुद्ध तो शान्ति पाने। पर यहा तो स्वार्थ का



अपनी अपनी पूँजी को बढ़ाने के लिये किसी न किसी प्रकार से नए नए कानून, अनोखे अनोखे नियम बनवाए जाते हैं और भौति भौति के उपाय सोचे जाते हैं। मायारण जनता पर उनका घुरा प्रभाव होगा वह पिस जायगी, उसमें दुःख और अशान्ति छा जायगी, इस घात की सम्पत्ति के उपासकों को कुछ चिन्ता नही होती। उन्हें तो अपने स्वार्थ से प्रयोजन है। इसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये वे देश के हानि-लाभ को भी नहीं सोचते।

पूँजीपतियों की स्वार्थान्धता राजनीतिक-अशान्ति का भी मूल-कारण है। जब अपने देश में पूँजीपतियों की स्वार्थान्धता अन्तिम सीमा का पहुँच जाती है और साधारण लोगों के रहने और राने के लिये कुछ नहीं बचता तब उन्हें रहने के लिये भूमि और राने के लिये भोजन टूँडने के लिये बाहर की ओर देखना पड़ता है। तब और वेशों पर चढ़ाइयाँ हाती हैं। रक्तपात और विध्वंस के अध्याय आरम्भ होता है। मनुष्य, पशु, धन, अन्न आदि का इतना अधिक नाश होता है कि वषों तक उसकी पूर्ति नही हो पाती, अनाथ बच्चे और विधवा स्त्रियाँ रोती हैं। रोग, महामारियाँ, अकाल और लूट-खसोट की राह जन आती है। त्रिधर वेगों से ही प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगता है। इन सग्रामों का प्रभाव सारे ससार पर पड़ता है। उद्भ्रष्ट जातियों के हौसले उठ जाते हैं। सर्वत्र अनन्त अशान्ति का पारापार उमड़ आता है। अपनी वस्तुओं की रक्षित के लिये अपनी सम्पत्ति की वृद्धि के लिये देशों को समाचार-पत्रों द्वारा, राजनीतिज्ञों द्वारा या अन्य साधनों द्वारा युद्धार्थ उकसाना भी पूँजीपतियों का काम हुआ करता है। कहा जाता है कि गत यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ करवाने में

अस्त्र-रास्त्र की एक उड़ी भारी कैस्टरी के एक हिस्सेदार का भी हाथ था। यह हिस्सेदार राजनीति में प्रधान स्थान रखता था अथवा राजकीय विभाग में उच्च-पदाधिकारी था। उस पूजारीपति की स्वार्थान्धता ने कितना अर्थ किया कितनी गूल मगरी करवाई, कितने घरों को बर्बाद किया, कितने धन-जन का सहार किया, कितनी अशान्ति फैलाई, यह सर्व-विदित ही है।

जिगर टूटि डालो उधर ही पूजारीपतियों के शिकरने तैयार मिलते हैं। जहा जाओ वहा इनकी स्वार्थ-भायना पूरी हो रही होती है। जिसे पूजारी वही इनकी यन्त्रणा से वर्पीकृत होता है। इनका पूजारी का हाथ इतना लम्बा और इतना दृढ़ है कि आकाश से तार तक तोड़ लेता है। घर में, यानार में, यात्रा में कहीं भी य पीछा नहीं छोड़ते। इनका जाल बहुत घना है। पूजारी के नशे में ये देश की म्यनन्त्रता तक का परित्याग कर देते हैं। उठने वालों को ये कभी उठने नहीं देते। आगे बढ़ने से ये मद्द रोना परत हैं। इन्हें किसी विषय की चिन्ता है तो अपने स्वार्थ की, अपना धन बढ़ाने की। इनकी स्वार्थान्धता अशान्ति का प्रसार करने का मुख्य कारण है। क्या ही अच्छा हो यदि इनमें सहानुभूति, दया, दक्षिणा और अनुकम्पा के भाव जागृत हों।

—गोपाल चन्द्र देव

साहित्य सेवियों का भी अपना निरन्तर हो मार्ग होता है। किसी लोभ और स्वार्थ के अधीन होकर साहित्य-सेवा करनी वास्तव में सेवा नहीं कहला सकती। नि स्वार्थ भाव से साहित्य की सेवा करने वालों का जन्म मृतकृत्य है। ऐसे लोगों का साहित्य अमर होता है। सच्चे साहित्य सेवियों का नाम कभी नहीं मिटता।

हीन-दुर्गियों की सुश्रूषा का कार्य अत्यन्त महत्ता रखता है। दुःखी की सेवा करने के लिये जिसका करों में गति आती है, इतना हुए को यामने के लिये जिसका हाथ आगे बढ़ता है वह मन्त्रा पर त्त-चिन्तन है। सेवा-धर्म की यथार्थ भावना की ऐसे अवसरों पर ही परीक्षा हुआ करती है। मलीमस और दुर्गन्धयुक्त प्राणी की सेवा के लिये जो मनुष्य आगे बढ़ता है उससे बढ़कर धीर-हृदय तथा हृदयेता और सौम्य होगा। धालचर, स्वयंसेवक आदि का आधार सेवा-धर्म ही है। रातों जाग कर, पहरों भूखे रह कर, कोसों चल कर, घण्टों राड़े रह कर और मीला भागकर हँसते हँसते सेवाधर्म में निरत रहना उन्हा का काम है।

धर्म की सेवा में सर्वस्व बलिदान कर देने वाले प्राणी सदैव जीवित हैं। उनका भीतिर शरीर चाह विद्यमान न हो, और वह तो किसी का भी नहीं रहता, पर उनका यश शरीर अपने पूर्ण सौन्दर्य और जीवन के साथ दिग्गई देता है। वह न कभी जरा-जीर्ण होता है और न कालज्वलित होता है। उसका ढाचा इतना सुन्दर और अनीश्वर है कि चोट पर चोट पडने पर भी उसका घाल बोंका तक नहीं होता। धर्म-वीर हकीकतवाय की धर्म सेवा इतनी अमूल्य है कि उसका दाम आँकना नितांत असम्भव है।

माता पिता की सेवा करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। कितने दुःख उठाकर, कितनी आपत्तियाँ भेलकर वे अपनी सन्तान का पालन करते हैं। उनके उपकार का, उनकी सेवाओं का बदला किसी प्रकार भी चुकाया नहीं जा सकता। इतना होने पर यदि मनुष्य विद्या, यौवन, धन आदि की मदान्विता में उनका सम्मान और उनकी सुश्रूषा नहीं करता या यों ही गर्ज में अथवा मूर्खता से उनकी सेवा से मुह मोड़ता है तो यह महादुष्ट है। श्रवणकुमार सा मातृ-पितृ-सेवा का भाव हृदय हृन्मय में जाग उठे तो यह जगत् सुख और शान्ति का आगार बन जाय। गुरु-सेवा के बिना विद्यालाभ कठिन होता है। विद्याप्राप्त करके भी जो गुरुओं की शिक्षाओं की, सेवा में मन नहीं लगाते उनकी विद्या निष्फल जाती है। इसी प्रकार भाई-बहिनो की सेवा भी प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। यतिश्रेष्ठ वीरवर लक्ष्मण जी नि स्वार्थ भ्रातृ-सेवा इसका अनुपम उदाहरण है। चोन्ह वर्ष पर्यन्त सर्वविध राम सेवा में निरत रहने वाले उस सच्चे सेनक की उद्यता अप्रतिम है। दिन-रात, सम्पत्ति-विपत्ति में राम और सीता की सेवा के रंग में रगे लक्ष्मण के सम्बन्ध में कविजगत् मैथिलीशरण गुप्त जी के निम्नलिखित पद्य भरपूर प्रकाश डालते हैं—

“पञ्चवटी की छाया में है सुन्दर पर्णकुट्टीर बना,  
उसके सम्मुख स्थच्छ शिला पर धीर धीर निर्भोकमना।  
जाग रहा यह कोन धनुर्धर जबकि भुवन भर सोता है,  
भोगी कुसुमायुध योगी सा बना दृष्टिगत होता है ॥  
किस व्रत में है व्रती वीर यह निद्रा का यों त्याग किये,  
राजभोग के योग्य विपिन में बैठा आज बिराग लिये।

घाग हुआ है प्रठो जिसका उस दुर्गार में क्या धन है ?

निमकी रक्षा में रत हमरा तन है, मन है, जीवा है ॥”

उद्दे यूद्धों का घात घात में परिहाम करने वालों और उनमें कथन को सत्रया असामान्य समझने वालों को सेवाधर्म के उत्तर का पता नहीं। एक कवि कहता है कि घड़े-यूद्ध की सेवा करने वालों व्यक्तिगतों की आयु, बिगा, कीर्ति और शक्ति वृद्धि को प्राप्त होती है। इस कथन की वैज्ञानिक विवेचना न करके इतना ही कहना पर्याप्त हागा कि इसमें विश्वास भी असत्य नहीं और यह अनुभव का विषय अधिक है।

स्वामी की सेवा की निष्पत्ति भी किसी से कम नहीं औरों से इस में इतना ही भेद है कि ये सेवाएँ निस्वार्थ भाव में की जाती हैं और यह सेवा स्वार्थप्रधान होती है। फिर भी सेवाधर्म के इस अंग से मेधक का मनुष्य जगत् में पर्याप्त उच्च स्थान है। समय-उसमय का विचार नित्य विना ही प्रत्येक कार्य करने के लिये सदा तैयार रहने वाले सेवक की महत्ता समझनी चाहिये। स्वामी की किन्तियों पर भी कुछ ध्यान न देकर, मान-प्रपमान की भी कुछ परवाह न करके अपने कर्तव्यपालन में दत्तचित्त रहने वाले सेवका का तुच्छ समझने वाला व्यय तुच्छ है।

भारतीय अतिथि-सेवा की उपमा अन्यत्र कहीं न मिलेगी। इन दिनों भी इस देश में अतिथि सेवा के उत्कृष्ट उदाहरण दिखाई देते हैं, जब कि इस देश को ‘माग-भूला-गटोही’ कहा जाता है। अतीत का वह पुण्य स्थल, भूतकाल की वह गरिमा प्राज्ञ भी नरों में आनन्दाश्रु ला देती है। युधिष्ठिर के राजमूय यह में जब यह प्रश्न उठा कि अतिथियों के पाव धोने का भार

पैन करे, तो उस समय द्वारिगर्धाक्ष जगत्पूज्य योगिराज श्रीकृष्ण अपने पीताम्बर को सम्भालते हुए और मुस्कराते हुए इस भार को अपने ऊपर ले लेते हैं। सेवाभाव की महत्ता को वे पूर्णतया जानते थे। नेश देशान्तगो मे आप हुए लोगों के पैरों की धूलि को धोने वाले उस मौखले कृष्ण को ही अन्त मे उस यज्ञ की प्रधानता के योग्य समझा गया।

सेवाधर्म में निज-सेवा को हमलिये स्थान दिया जाता है कि मनुष्य अपना ध्यान स्वयं स्वयं सबे, अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण कर सके। उसे स्वावलम्बन की उपयोगिता का पता चल जाय। स्वावलम्बन ही निज सेवा है। स्वावलम्बी पुरुषों में पर-हित चिन्तन का भाव अधिक होता है। इससे पर-सेवा का मार्ग दिखाई देता है। सेवाओं पर घटित अतिक्रि आधित न रहने वाले लोग उन्हें निराम करने का पर्याप्त अवसर देकर एक प्रकार से उनकी सेवा ही करते हैं। विदेशी वस्तुओं के सहारे न रहना स्पष्ट रूप में अपने देश के निर्धनों को सेवा करना है।

सेवा सुश्रूपा की जिनमें स्वाभाविक लग्न होती है, वे उच्च से उच्च कार्य कर जाते हैं। ग्लोरेस नाइटिंगेल अभी नन्ही सी बालिका ही थी कि उसका सेवाधर्म का भाव प्रकट हो गया। एक कुत्ते को घायल हुआ देखकर उसके हृदय में अनुकम्पा और सहानुभूति की भावना जागृत हो उठी। उसने तत्काल ही उस कुत्ते की भरदम पट्टी करनी आरम्भ कर दी। कुछ ही दिनों में कुत्ते की वशा सुधर गई। यही देवी आगे चल कर ससार के सामने सेवाधर्म का ऐसा अनुपम उदाहरण उपस्थित कर गई कि जिसकी प्रशंसा सारी दुनिया मुक्तकण्ठ से कर रही है।

यूरोपीय महासमर के समय इसने घायलों की सेवा के लिये अनुज्ञा मागी। इसे मुख्य नर्स बनाकर भेज दिया गया। उस समय स्कूतरी का रुग्णालय घायल अंग्रेजी सैनिकों से भरा पड़ा था। वहाँ बीमारी भी फैल रही थी। प्रतिदिन घायलों और रोगियों की संख्या में वृद्धि होती जा रही थी। उस हस्पताल की दशा क सुगरने की कोई आशा न थी। ऐसे समय में फ्लोरेंस नाइटिंगेल ने मारा कार्य-भार अपने साहस-पूर्ण कंधों पर लिया। उसकी निःस्वार्थ सेवा से घायल और रुग्ण सिपाही शीघ्र ही स्वस्थ हो होकर समरभूमि में जाने लगे। इस प्रकार सेवा की मूर्ति फ्लोरेंस की वह सेवा वहाँ की आशावाँत विजय का मुख्य कारण बनी।

सेवाधर्म बहुत गहन है। इसका पार पाना सहज नहीं। सेवाधर्म में प्रवृत्त तो बहुत होते हैं, पर अन्त तक पूरा निर्वाह करने वाले थोड़े हैं। हानि अपमान, कटुवाक्य, फिडक, फटकार आदि की विग्रमानता में भी सेवाधर्म में दृढ़ रहने वाले व्यक्ति अधिक नहीं हैं। उस समय माता पिता, गुरु, भाई-बन्धु, देश, धर्म आदि किसी की भी सेवा में रत रहना कठिन हो जाता है। इन अवसरों पर भी सेवाधर्म से विमुख न होने वाला मनुष्य महात्मा है।

सेवाधर्म में बहुत शक्ति है। ऊँचे उठाने का यह महामन्त्र है। इससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों की पूर्ति होती है। पर-अदय पर विजय पाने के लिए, दूसरे को अपने वश में करने के लिये यह ही एकमात्र साधन है। इसकी महत्ता सर्वत्र दिखाई देती है। प्रेम के प्रामाद का यही प्रकाश है। यह पूँ्य पुरुषों का पुण्य प्रसाद है।

सेवा के बिना मेवा नहीं। प्रकृति सेवाधर्म से सरित  
ओत-प्रोत है। सूर्य, चन्द्र, तारे, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, फल,  
फूल आदि अहर्निश प्राणिमात्र की सेवा कर रहे हैं और इससे  
कभी विरम नहीं होते। शीतल जल प्रवाहिणी तटिनिया, निर्मल  
वारि पूरित तडाग, नाना पदार्थों के आकर पर्वत पलमात्र के लिये  
भी सेवाधर्म का परित्याग नहीं करते। वर्षा की झड़ी लगा कर  
अखिल विश्व की पालना करने वाले मेघ सेवाधर्म में सदा से  
निरत हैं। पशु और पक्षी भी सेवाधर्म को निभाते हैं। चारों  
दिशाओं को सुखमय संगीत से आप्लावित करने के लिये  
सेवाधर्म को स्वीकार करना हमारा सब का कर्तव्य है।

गोपालचन्द्र देव



( २६ )

## भारतीय-शौर्य

समरागण में विक्रम का पूरा पूरा प्रदर्शन शौर्य है। शूर ना रणभूमि को हँसी खेल समझता है। वीरों की असिधारा के सम्मुख गिरि-सम रिपु भी नहीं ठहर पाते। रण मँडुरे की युद्ध म्रीडा फायरों को कँपा डालती है। शत्रु के हृदय से शूर व्यक्ति के प्रति 'वाह वाह' की ध्वनि निकलती है। इन शताब्दियों में पूर्व भारतीय शौर्य बहुत घनत था। भारत की प्राचीन वीरता गीत विदेशी तक हृदय खोल कर गाते हैं—उसकी छाप अब तक उनके मन पर अङ्कित है।

भारतीय-शौर्य की थाह अब तक कोई देश नहीं पा सका। राम-लक्ष्मण से युद्धवीर कहाँ दिग्गई देते हैं ? तपस्वियों का वेश धारण किए हुए उन वीरों ने युद्ध में अद्वितीय शक्ति दिखालाई। मेघनाद, कुम्भकर्ण रावण जैसे विश्व भर के विनय करने वाले दुर्धर्ष वीरों को और उनकी बलशालिनी असंख्य सेना को अपनी शौर्याग्नि में स्वाहा करने वाले मेनो भाइयों को इसीलिये भारत का वच्चा वच्चा प्रतिपल स्मरण करता है। कितनी उनमें शक्ति थी। कितना उनमें च साह था। राम की अन्य कारणों से इतनी प्रतिष्ठा है, यह बात नहीं। महावीर हनुमान् के शौर्य को कौन पा सकेगा ? वे सीता की ग़ोज में अकेले ही लफा पहुँचते हैं। माता सीता को ढूँढ़ कर अपना परिचय लेकर चुधा निगारण के लिये

राजकीय उद्यान में जाने की आज्ञा ले लेते हैं। अल्पकाल में ही सारा जगीचा उनड गया। रक्तक दोड़े आए, पर वीरवर के मामने ठहर न सके। रावण-पुत्र भी जीता न बचा। अन्त में मेघनाद क साथ रावण के दरबार में पहुँचे। कपड़े बाँध कर आग लगा देने की आज्ञा हुई। पर वन्य प्रजाङ्गी! तुमने सारी लङ्का को जलाकर भस्म कर डाला। अङ्गद को शूरता असाधारण थी। रावण के बड़े उड़े वीर उसके पाय को हिला न सके। शौर्य की ऐसी मूर्तियों की आज भारत में अतीव आवश्यकता है।

भीमनाथ दैत्यो को यमपुर पहुँचाकर कृष्ण ने रक्तसराज कस का भरी सभा में सहार किया। शिशुपाल जैसे महा पराक्रमी राजा का सिर काट कर लोगों को सफटो से मुक्त किया। श्रीकृष्ण का अग अग शूरता से ओत प्रोत था। भय और चिन्ता का उनमें लेश भी न था। उस समय जरासन्ध एक विक्रमशाली और अत्याचारी शासक था। सहस्त्रा राजा उसका कारागार में पड़े जीवन की घड़िया गिन रहे थे। वीर श्रीकृष्ण ने उसका सहार अनिवार्य समझा। कृष्ण, अर्जुन और भीम तीनों महावीर उसके पास जा पहुँचे। कृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा—जरासन्ध, हम तीनों में से जिसके साथ चाहा लड़ सकते हो। अम्य उत्साह था। उम गज जैसे भयकर जीव से युद्ध करने के लिये उनमें पुरा सामर्थ्य था। किन्तु जरासन्ध ने भीम को युद्ध के लिय चुना। पर भीम तो भीम ही था। शौर्य और शक्ति का पर्वत था। उस लौह शरीर ने जरासन्ध को चीर कर रख दिया। भीम सा बली आज एक कल्पना मात्र है। कहा भारत के एमे एमे शूर और कहा आज कल के पुरुष **भीम** का इतना आतक या कि

उसका नाम लेते ही शत्रु-सेना भाग जाती थी। दुष्ट कीचक को भीम ने बहुत ही घुरी तरह मारा। बलशाली भीम भारत की शान था। शौर्य की प्रज्वलित प्रतिमा भीष्म किस देश के इतिहास में विद्यमान है। द्रोण नैसा शूरता और शक्ति का भण्डार भारत में ही हुआ था। कर्ण, शल्य, दुर्योधन आदि बड़े बड़े वीर भारत के अनुपम उदाहरण थे। डर और आशंका का जिनमें नाम भी न था। भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य आदि योद्धाओं का सहार करने वाला शौर्यपुङ्गव अर्जुन। आहा! नाम लेते ही हृदय में असीम उत्साह का संचार हो जाता है। उसकी शूरता के आगे जगन्मय की शूरता लज्जाती है। अर्जुन के भुज-दण्डों में कई अक्षौहिणी सेनाओं का सर्वनाश करने की शक्ति थी। उसकी तुलना असम्भव है। वीरश्रेष्ठ अर्जुन कपुत अभिमन्यु के शौर्य की प्रशंसा कौन न करेगा? क्या भारतीय उसे भूल सकते हैं? अर्जुन किसी दूसरी ओर घनघोर युद्ध मचा रहे हैं। इधर जयद्रथ चक्रव्यूह बना कर पाण्डव-पक्ष का सहार कर रहा है। युधिष्ठिर एक धार विचलित हो उठते हैं। उन्हें व्याकुल देख अभिमन्यु उस चक्रव्यूह को तोड़ टालने का विश्वास दिलाता है। अन्त में अभिमन्यु उस व्यूह में जा घुसा। चारों ओर हाहाकार मच गया। प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगा। शत्रुओं के ऋक्ष मुण्ड आकाश में उड़ने लगे। सारी शत्रु सेना घबरा गई। बड़े बड़े योद्धा भी उस शूर के सामने ठहर न सके। सेकड़ों रण में काम आए। तब सारे महारथियों ने मिल कर उस अपेले वीर पर प्रहार किया। अभिमन्यु के अस्त्र-शस्त्र धीरे धीरे नष्ट होने लगे। अन्त में उसने रथ का पहिया उठाकर ही युद्ध जारी

रमा पर वह भी न बच सका और उस वीर ने वीरगति पाई। युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न आदि वीर भारतीय-शौर्य के चमकते तारे हैं।

भारतवर्ष में जज्ञ विद्या, सभ्यता, सदाचार, कला-कौशल और व्यापार उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे, वहा शूरता भी किसी से पीछे न थी। शौर्य को तो भारत में मुख्य स्थान मिला है। भारत वीर-पुरुषों की रान रहा है। सिक्न्दर जैसे विश्व-विजेता को भी भारत के वीरों के सामने भस्मरु भुजाना पड़ा था। सिक्न्दर की मृत्यु के अनन्तर उसका साम्राज्य उसके मेनापतियों ने बाँट लिया। उनमें से सेल्यूकस ने जीत हुए प्रदेशों पर पुनरधिकार करने के लिये भारत पर आक्रमण किया। उस समय भारतीय साम्राज्य की बागडोर चन्द्रगुप्त मौर्य के हस्तगत हो चुकी थी। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को नानो चने चरवा दिये। भारतीय योद्धाओं के सामने यूनानी-ढल ठहर न सके और अन्त में सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से मैत्री स्थापित करके युद्ध से पीछा हटाया। इतिहासज्ञ लिखते हैं कि उस समय प्रत्येक भारतीय पूरा योद्धा होता था। सच तो यह है कि शूरता और निर्भयता की छुटी भारतीय बालकों को जन्म से ही पिलाई जाती थी। आज वह एक स्वप्न है। विन्दुसार, अशोक, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्ष आदि वीरों की याद आते ही भारतीय गौरव की झलक दिलाई दे जाती है। भारत ! लाखों वर्षों के सञ्चित शौर्य को तू क्यों छोड़ बैठा है ? राजपूतों की वीरता को भारत का इतिहास ऊँचे स्वर से गा रहा है। यवन आक्रमणकारियों को छटी का दूध याद दिलाने

वाले भारतीय वीरों से भारत का मस्तक इस पलित्तावस्था में भी उन्नत है और भविष्य में भी उसे कोई नीचे न कर सकेगा । भाग्य-वश या नुस्खिया के कारण अथवा संगठन व अभिमान से भारतवर्षी परतन्त्र हो गए । यह एक अमिट कलङ्क है । फिर भी उनके शौर्य के आगे विदेशियों की वीरता तुच्छ है । पृथ्वीराज, अन्नगपाल, राणा मधामसिंह आदि योद्धाओं की वीरता को याद दिलाने बिना रहा नहीं जा सकता । बाप्पाराजल, भीमसिंह, बटुक, कामा फान्ह, हम्मीरराज-राणाकुम्भा जैसे संगर-कीड़ा-प्रिय वीरों में शौर्य का समुद्र ठठें भारता था ।

वीर फसरि सरजा शिवाजी और महाराणा प्रतापसिंह यवन काल के भारतीय शौर्य के सूर्य और चन्द्र हैं । हिन्दूपति के नेतृत्व के आश्रित सङ्घ ने शत्रुओं का शोणित भरपेट पिया था । बेरियों की बोटी बोटी नोच कर भी यह तृप्त न होती थी । केवल अपने शौर्य और उत्साह के बल पर वीर शिवाजी ने देश के अत्याचारियों के यज्जे से छुड़ाने का बीड़ा उठाया था और वे इसमें सफल भी ऐसे हुए कि इतिहास में बंसा उदाहरण मिलना कठिन है । पहले पहल बीजापुर के सुलतान से टक्कर लगी । वह झुकता उठा । गोद में बैठ कर नाक से छगली वाली बात थी । उसने शिवाजी को उनके पिता शाहजि द्वारा शान्त करना चाहा, शाह जी को कैद कर के धमकी देकर काम निभालने की युक्ति निकाली, परन्तु शिवाजी पूरे शूर थे, वे किसी प्रकार भी अपने माग से विचलित न हुए । आक्रमण पर आक्रमण हुए, पर उस वीर के शौर्य के सामने कोई न ठहर सका । स्वतन्त्र-राज्य की सीमा बढ़ती चली गई । धूर्त अफजलखान

जैसे योद्धा को नर-मित्र शिवाजी ने एक ही मट्टने में पार पर दिया। अन्त में अली आग़िनशाह मर्यद चढ़ दौगा, पर उसे भी मुद भी मानी पड़ी। तब उसने शिवाजी की सततता स्वीकार कर ली। उसके धार्मिक और धीरे की प्रतिमा शिवाजी ने मुगलों को धीरे ध्यान दिया। शाहशाहों जैसे मेनातक असह्य बल-बल महित चढ़ दीड। पूना हथिया लिया गया। पर असीम साहसी धीरे शिवाजी ने उसको ऐसा भगाया कि जन्म भर न भूला होगा। शिवाजी की शूरता का यन्त्रि विस्मृत वर्णन किया जाय तो एक बड़ा भारी ग्रन्थ बन जाय। परतन्त्रता के ध्वन को पलायन काट कर फेंक देने वाले शूरवीर शिवाजी हमारे हृदय के देवता हैं। महाराणा प्रताप की युद्ध चातुरी, उनकी शूरता, ससार भर को आश्चर्य-व्यक्त कर देती है। अपनी नीति और शक्ति से भारत के अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व जमाने वाला अफ़्ग़र उनके भय से काँपा करता था। राजपूताने की यह अग्नि उनके मनोरथ-धन को जलाए डालती थी। हरदीपादी का युद्ध जीवन और मरण का प्रश्न था। चेतक पर सवार महाराणा की तलवार और धनका भाला शत्रु सेना को निछाए डालता था। कुछ हजार मेरादियों के साथ राणा ने प्रचल शत्रु की अगणित सेना में घुस कर ऐसे हाथ दिगाए कि शत्रु सेना के छक्के छूट गए। उस धीरे महापुरुष ने यन्त्र और कन्दराओं में भटक भटक कर अनेक सरुट सहे, पर शत्रु के सामने मुकना स्वीकार न किया। अन्त में उसने मेवाड़ को विजय करके ही छोड़ा। उस महावीर की शक्ति को देखकर इतिहास-लेखक भी दग हैं।

की स्मृति मात्र से हृदय बलियों —→

लगता है। भाई राज्य भार सौंप कर किसी युद्ध निमन्त्रण में गए थे। एक यवन ने नगर में आकर घोषणा की कि जिसमें शक्ति हो मुझसे युद्ध करे। वह समय क्षत्रियत्व का था। शत्रु के आह्वान का उत्तर न देना अपनी वीरता को बलवृद्धि करना था। और वह नगर तो रिपु की उद्रण्डता को कभी भी नहीं सह सकता था। युद्ध के लिये स्थान निश्चित हुआ। वहाँ सारा नगर इन्द्रा हो गया। घड़ा भयकर सामना था। एक धुने हुए तलवार चलाने वाले को मुकामले पर उतारा गया था। शरीरों के हृदय की गति सीन थी। अन्त में यवन की तलवार उस वीर के हृदय के पार होगई। प्रजा घबरा सी रह गई। पर वीर हरदौल के शौर्य ने उसे उद्बेलित कर दिया और उमने दूसरे दिन स्वयं युद्ध करने की घोषणा कर दी। जनता चित्र-रचित सी हो गई। प्रत्येक के हृदय में भिन्न भिन्न निचार चक्र काटने लगे। आज के परिणाम को सोच सोच कर सब के मन चिन्ता के सागर में डूबने लगे। दूसरे दिन अत्यन्त शक्तिशाली हरदौल ने भाई की सङ्ग लेकर रण भूमि में पाव रखा। 'एक बार तो चतुर्दिक् हर्ष ध्वनि से प्रतिध्वनित हो उठा, पर शीघ्र ही सन्नाटा छा गया। इधर हरदौल थे, उधर वह यवन। कभी ये विजय पाते दिगई देते थे और कभी उसका जोर दृष्टिगोचर होता था। अन्त में हरदौल ने एक ऐसा हाथ मारा कि प्रतिद्वन्द्वी की देह भूमि पर गिर कर तडप तडप कर शान्त हो गई।

शूरता के उपासक गुरु अर्जुनदेव, तेगबहादुर, गोविन्दसिंह, चन्दा बैरागी, महाराजा रणजीत सिंह, सेनापति हरिसिंह नलुवा, मूलराज आदि वीरों की प्रसन्न भूमि भारत, तेरी महत्ता किसी से

कम नहीं। ऐसे ऐसे वीरों के उत्पत्ति स्थान भारत का पवन-सबमुच हृदय में वेदना उत्पन्न कर देता है।

भारत की वीर नारियाँ की समता अन्य देशों की नहीं कर सकता। रानी दुर्गायता का नाम इतिहास में मन्दिरों में लिखा गया है। रानी सारंग्या और जसवंत सिंह की रानी शौर्य पुरुषों की वीरता को भी अकिञ्चित् सनमता है। रानी का युद्ध कोशल विदेशियों को भी विस्मित कर देता है। रानी हाडा आदि और भी अनेक शूर स्त्रियों के इतिहास भरा पड़ा है। इस पतितापस्या में भी मन्दिरों में अनेक शौर्य विग्रहमान हैं। मोपला इत्यादि में १९१३ वर्षीय नालिका का दुष्ट, नीच और अमान्य उनके हाथ से तलवार छीन कर यमपुर पहुँचाने और उनके शूरता का ज्वलन्त उदाहरण है। अभी कुछ ही दिनों में बाहुओं का संहार करने वाली एक पक्षी ने अपने नाद से सारा भारत गूँज उठा था।

भारत के बालकों तक में शूरता पगडार के लूँच लूँच थी। भारतीय बच्चे शेरों से गेला रत थे। रथ, हथ, भाग आदि की वीरता वीरता को चरिताय कहते हैं। नमस्सिंह जैने पराक्रमी बालक भारत के नाम का आदमी कहते हैं। भारतीय वीर बालकों की शूरता पर मन्दिरों में मन्दिर हैं।

यूरोपीय महायुद्ध में भारतीय ब्रह्मों ने शौर्य का आश्चर्य-जनक उदाहरण उपस्थित किया और अस्त्र-सत्तार आखिं खुल । शत्रुओं और मुण्डितों की और मारकर शत्रु पर आक्रमण करने



के अनुसार ज्या ज्या मनुष्य सभ्य और उन्नत होत जाते हैं पद्य व स्थान पर गद्य का प्रचार होने लगता है। पहले जो पद्य देश व लोगों के हृदयों को आन्दोलित कर दृष्टता था, वही तृतीययुग में कुछ भी प्रेम नहीं दिया करता। पूर्वकाल में लोग जिस पद्य को सुन कर वाह वाह करते और भूमने लगते थे, मध्यता के काल में वही पद्य को लाग मूर्खों का विषय समझते हैं। इसका अतिरिक्त एक दूसरा भी मत है। उनकी दृष्टि में पद्य किसी काल की उन्नति का चिह्नक है। गद्य सर्व-साधारण में व्यवहार का माध्यम होता है, और पद्य सभ्य और रसिक जनों की मानस-नृत्ति का हेतु। बुद्धिमान और सुपठित समान का समय पद्यों की चर्चा, और पद्यों के पाठ में व्यतीत होता है। एक दृष्टि से पद्य की अपेक्षा गद्य सरल है। जब लोगों के मस्तिष्क शिथिल और हृदय भाव-शून्य हो जाते हैं तो वे पद्य को छोड़ गद्य का-आश्रय लेते हैं। उस समय उनमें न तो पद्य-निर्माण की शक्ति होती है और न पद्य को समझने की भावना।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में पद्य का ही प्रचार था। एक प्रकार से गद्य का आरम्भ या प्रचार १६वीं शताब्दी में हुआ है। इसी प्रकार अन्य देशों की भाषाओं में भी गद्य से पहले पद्य की प्रधानता रही है। आज की अपेक्षा पहले काल के लोग असभ्य और जङ्गली थे, यह भी कहा जाता है। जैसे जैसे सभ्यता बढ़ती गई, वैज्ञानिक आविष्कार होते गए, गद्य अपना प्रभुत्व जमाता गया। और इन दिनों पद्यों को कोई पूजता ही नहीं। इस प्रकार पहले सिद्धान्त में बहुत कुछ सचाई प्रतीत होती है, परन्तु दूसरे मत की पुष्टि व लिये भी अनेक प्रमाण

है। तुलसीदास और सूरदास जैसे कवि आजकल उत्पन्न नहीं हो रहे। उन जैसी पद्य निर्माण करने की शक्ति इन दिनों नहीं रही। उन पद्यों को समझने वाले भी कम हैं। समाज का हृदय इतना भावशून्य हो चुका है कि सूरदास के एक पद्य को समझने के लिये समय चाहिये। इस पर भी यह कौन जानता है कि भविष्य में कोई तुलसीदास या सूरदास उत्पन्न न हो जायगा ? तो क्या वह काल आजकल की अपेक्षा असंभ्यता-पूर्ण होगा ? या विकासवाद का सिद्धान्त कैसे स्थिर रह सकगा ?

यह ससार परिवर्तनशील है। जो दृश्य आज दिखाई देता है, वह कल दृष्टिगोचर नहीं हाता और जो कल दिखाई देगा वह आज विद्यमान नहीं है। किसी भी देश की अवस्था सदा एक सी नहा रही। भाषाओं में भी परिवर्तन होता रहा है। हिन्दी भारतवर्ष की भाषा अनादि काल से नहीं है। इमसे पहले अपभ्रंश भाषाएँ और उनसे भी पहले प्राकृत और संस्कृत भाषाएँ प्रचलित थीं। संस्कृत भाषा को ही लिया जाय। संस्कृत में पद्य साहित्य का बहुत मान और प्रचार रहा है। पहले सिद्धान्त के अनुसार यदि विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत के पूर्वकाल में पद्य का ही प्रचार था। गद्य का तो निर्माण हुआ ही नहीं अथवा पीछे से नाममात्र की रचना गद्य में हुई। पर इसे यदि भ्रम कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। दर्शनशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, निरुक्त आदि गद्य-ग्रन्थों की रचना रघुवंश आदि-पद्य ग्रन्थों से प्राचीन है। अच्छा, थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि इन गद्य-ग्रन्थों का निर्माण रघुवंश आदि पद्यों की पुस्तकों के पीछे हुआ और गद्य

के अनुमार ज्या-ज्या मनुष्य सभ्य और दम्रत होते जाते हैं पद्य के स्थान पर गद्य का प्रचार होने लगता है। पहले जो पद्य देश के लोगों के हृदयों को आन्दोलित कर दानता था, वही नवीनयुग में कुछ भी असर नहीं दिखा सकता। पूर्वकाल में लोग जिस पद्य को सुन कर वाह वाह करते और भूमने लगते थे, सभ्यता के काल में उर्मी पद्य को लोग मूर्खों का विषय समझते हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी मत है। उनकी दृष्टि में पद्य निर्मा काल की उन्नता का गीतक है। गद्य सर्व-साधारण में व्यवहार का साधन होता है, और पद्य मन्द्य और रमिक जनों की मानम-रुचि का हेतु। बुद्धिमान और सुपठित समान का समय पद्यों की चर्चा, और पद्यों के पाठ में व्यतीत होना है। एक दृष्टि से पद्य की अपेक्षा गद्य मरल है। जब लोगों के मस्तिष्क शिथिल और हृन्य भाव-शून्य हो जाते हैं तो वे पद्य को छाड़ गद्य का आश्रय लेते हैं। उस समय उनमें न तो पद्य-निर्माण की शक्ति होती है और न पद्य को समझने की भावना।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में पद्य का ही प्रचार था। एक प्रकार से गद्य का आरम्भ या प्रचार १६वीं शताब्दी में हुआ है। इसी प्रकार अन्य देशों की भाषाओं में भी गद्य से पहले पद्य की प्रधानता रही है। आज की अपेक्षा पहले काल के लोग अमध्य और जङ्गली थे, यह भी कहा जाता है। जैसे जैसे सभ्यता बढ़ती गई, वैज्ञानिक आविष्कार होते गए, गद्य अपना प्रभुत्व जमाता गया। और इन दिनों पद्य को कोई पूछता ही नहीं। इस प्रकार पहले सिद्धान्त में बहुत कुछ सचाई प्रतीत होती है, परन्तु दूसरे मत की दृष्टि के लिये भी अनेक प्रमाण

हैं। तुलसीदास और सूरदास जैसे कवि आजकल उत्पन्न नहीं हो रहे। उन जैसी पद्य निर्माण करने की शक्ति इन दिनों नहीं रही। उन पद्यों को समझने वाले भी कम हैं। समाज का दृश्य इतना भावशून्य हो चुका है कि सूरदास के एक पद्य को समझने के लिये समय चाहिये। इस पर भी यह कौन जानता है कि भविष्य में कोई तुलसीदास या सूरदास उत्पन्न न हो जायगा ? तो क्या वह काल आजकल की अपेक्षा अस-युता-पूर्ण होगा ? यो विनासवाद का सिद्धान्त कैसे स्थिर रह सकगा ?

यह ससार परिवर्तनशील है। जो दृश्य आज दिखाई देता है वह कल दृष्टिगोचर नहीं होता और जो कल दिखाई देगा वह आज विद्यमान नहीं है। किसी भी देश की अवस्था मदा एक सी नहीं रही। भाषाओं में भी परिवर्तन होता रहा है। हिन्दी भारतवर्ष की भाषा अनादि काल से नहीं है। इससे पहले अपभ्रंश भाषाएँ और उनसे भी पहले प्राकृत और संस्कृत भाषाएँ प्रचलित थीं। संस्कृत भाषा को ही लिया जाय। संस्कृत में पद्य साहित्य का बहुत मान और प्रचार रहा है। पहले सिद्धान्त के अनुसार यदि निचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत के पूर्वकाल में पद्य का ही प्रचार था। गद्य का तो निर्माण हुआ ही नहीं अथवा पीछे से नाममात्र की रचना गद्य में हुई। पर इसे यदि भ्रम कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। दर्शनशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, निष्कृत आदि गद्य-ग्रन्थों की रचना रघुवंश आदि पद्य ग्रन्थों से प्राचीन है। अच्छा, थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि इन गद्य ग्रन्थों का निर्माण रघुवंश आदि पद्य की पुस्तिका के पीछे हुआ और गद्य

का समय सभ्यता का युग था। तो उस सभ्यता के युग के बाद सस्कृत का स्थान कमग प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा ने ले लिया। तो क्या सभ्यता के युग के लोग एक साथ ही असभ्य हो गए? इस प्रकार तो 'असभ्य ससार धीरे धीरे सभ्य बन गया है और पद्य की अपेक्षा गद्य का प्रचार हो गया है' इस सिद्धान्त में कुछ चतुराई नहीं रह जाती।

अभिप्राय यह कि पद्य और गद्य के क्रमिक प्रचार को किसी सिद्धान्त के अनुसार बाँध देना उचित नहीं। कभी गद्य का प्रचार अधिक हो जाता है और कभी पद्य की प्रधानता हो जाती है। पद्य में भी सभ्यता का जमाना हाता है और गद्य में भी सभ्यता का युग होता है। जत्र पहले समय में पद्य में शरीर शास्त्र का निर्माण हुआ था, यद्यपि सस्कृत के मुख्य शारीरिक शास्त्र गद्य में ही हैं, तो वह युग असभ्यता का था और इस युग में गद्य में शरीर-शास्त्र की रचना हुई है तो यह युग सभ्यता का है, यह कैसे कहा जा सकता है? उस युग में पद्य को महत्त्व दिया जाता था और इस युग में गद्य को अन्धा समझा जाता है। इसके अतिरिक्त न्याय का मान्यायन भाष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की उत्कृष्ट गद्य रचना है। भाव किरात आदि पद्य काव्यों की सृष्टि उससे ६०० वर्ष बाद होती है। इसलिये पद्य और गद्य में एक भीत लड़ी का नेनी अच्छी नहीं। आज गद्य का युग है, नवीन-युग की वैज्ञानिक सृष्टि पद्य की अपेक्षा नहीं रखती। इन दिनों देश और जातियाँ समर-सागर को पार कर रही हैं, मानसिक भावनाओं के उतार-चढ़ाव की किसी को कुछ चिन्ता नहीं। अत्र युद्ध आदि से कुछ शान्ति मिलेगी, वैज्ञानिक आविष्कारों से कुछ वृत्ति मिलगी मनुष्य

स्वभावतः हृदय की ओर प्रवृत्त होगा और तब पद्य की आवश्यकता होगी। उस समय गद्य की अपेक्षा पद्य सप्रिय हो जायगा।

मानव जीवन के लिए गद्य और पद्य दोनों की आवश्यकता है। वैज्ञानिक-शुष्क विषयों के प्रतिपादन के लिये गद्य का आश्रय लेना पड़ता है। यदि इन विषयों को पद्य में रखा जाय तो ये दुर्गोच हो जाय। मीठी मीठी भाषनाओं का रस लेने के लिये पद्य की उपादेयता है। गद्य बुद्धि का विषय है और पद्य मन का।

ऐसे तो गद्य और पद्य दोनों में काव्य रचना हो सकती है और आजकल गद्य का प्रचार भी है, परन्तु जितना अच्छा काव्य पद्यमय हो सकता है उतना अच्छा गद्यमय नहीं। ससार के किसी भी साहित्य के किसी ऐसे उत्कृष्ट काव्य का नाम नहीं लिया जा सकता जो गद्य में हो। हृदय पर गद्य का जितना प्रभाव पड़ता है उससे कहीं अधिक पद्य का असर होता है। चदारदण के लिये क्रमशः निम्नलिखित गद्य और पद्य को लीजिये—

“छोटी सी कोमल शाखा पर तुम्हारा अर्ध विकसित स्वरूप कितना सुन्दर और प्यारा लगता था। ससार को आशा हुई थी कि फूल गिलकर चिरकाल तक उद्यान की शाभा बढाएगा। परन्तु तुम्हारे स्वच्छ हृदय में क्या उत्सर्ग भरा था यह कोई न जानता था। तुम अर्ध-विकसित अवस्था में ही अपने गुलाबी अधरो पर मन्द गुस्मान लिये हुए जीवन शाखा से टूट कर गिर पड़े”।



“भरा अरमानों से था मन,  
न हँसने पाया किन्तु सुमन।  
हास से प्रथम विनाश हुआ।”

गद्य में पद्य की अपेक्षा प्रभावशाली काव्य नहीं हो सकता, इतना होने पर भी प्रत्यक्ष पद्य काव्य नहीं कहा जा सकता। जैसे गद्य काव्य रहित हो सकता है वैसे ही पद्य भी कवित्वशून्य हो सकता है—ऐसा पद्य केवल नियमित वर्णों या मात्रार्थों की रचना होती है। जैसे—

‘जगो एक दिन, घर वाली ने कहा—नहीं है कुछ घर में,  
बोले—बड़ी विपत है, पैसा रहा नहीं है अब घर में।  
बोली यह—उगार ले आना, क्या भूरे जाओगे तुम ?  
कैसे काम करोगे, कैसे चल के घर आओगे तुम ॥’

उक्त पद्य मानवहृदय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता। इसे काव्य नहीं कहा जा सकता है।

पद्य में छन्द शास्त्र के नियमों का पालन करना चाहिये या नहीं, यह भी विवादास्पद विषय है। छन्द शास्त्र के नियमों में जरूर कर कविता करने की अपेक्षा स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने मनोभाव प्रकट करने की भावना इन दिनों प्रचल है। लोग पद्य को स्वेच्छा से प्रकट करने का पक्षपाती हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मतव्य है कि कविता में भावों की मुक्तता होनी चाहिये। नियमों के बन्धन भावों के प्रवाह को रोक देते हैं। प्राचीनकाल में छन्द आदि की पूरी पूरी गिनती के साथ प्रत्येक विषय के पूर्ण नियम बना दिये गए हैं। इसका परिणाम यह होता है कि लेखक के भावों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।

दूसरे विचारों के लोग छन्द शास्त्र के नियमों का पूर्ण पालन करने के पक्ष में हैं। इनके मत में यदि छन्दों के नियमों का त्याग कर दिया जाय तो गद्य और पद्य में कोई भेद नहीं रहता। ये





उन्होंने कहा भी है—

(१) 'निर्गुण राम निर्गुण राम जपहु रे भाई ।'

(२) 'दशरथ सुत तिहुँलोक बगाना,  
रामनाम का मरम है आना ॥'

(३) 'जाहि राम को कर्ता कहिये तिनहुँ को न काल न  
राखा ।'

(४) 'हृदया घसे तेहि राम न जाना ।

पूरव तिसा हंस गति होई ।

है समीप संधि दूम्ह कोई ॥

परे मूरख नादाना तेने हरदम रामहि न जाना ॥'

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रस्ट है कि कबीर के 'राम' में कोई विशेषता है। उनका 'राम' हृदय में घसने वाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह लोक विशेष निवासी नहीं है। कबीर की यह भावना हिंदुओं की नह्यभावना से मिलती है, परन्तु एक स्थान पर कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची है। निर्गुण भावना में भी उन्हें स्थूलभावना का आभास होता है और इसीलिए राम को निर्गुण और सगुण दोनों से ऊपर मानकर वे कहते हैं—

अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निंदा ।

ता नूर थैं सब जग कीया कौन मला कौन मदा ॥

इससे प्रतीत होता है कि कबीर का 'नूर' रहस्यवादियों के 'अनन्त प्रकाश' का दूसरा नाम है। कबीर भी स्वयं रहस्यवादी था। इसका विचार हम आगे करेंगे, यहाँ पर यह ध्यान में

रखना आवश्यक है कि इन पस्तियों में कबीर के ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

कबीर मूर्तिपूजा के कट्टर-निरोधी थे। उनके निचार में निराकार परमब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, अतः मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना मूर्खता है। जैसा पूजा करने वाले उनकी दृष्टि में ठोंगी हैं, वैसे हुए हैं और दस लाख योनियों में भटकत हुए नरक की सेवा करनेवाले हैं। इसीलिए जडे व्यंगपूर्ण शब्दों में वे कहते हैं—

‘पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजु पदार’

कबीर का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र भक्ति है—

“कहै कबीर मसा नाहा भगति मुगति गति पाई रे ।”

मनसा, याचा, बर्माणा भक्ति रखना ही उस तक पहुँचने का सुगम मार्ग है। यहाँ ओर उपनिषद् के पढ़ने से ही कोई पंडित नहीं हो जाता। धाम्तर में पंडित वही है जिसने प्रेम के ढाई अक्षर का पाठ पढ़ा हो। ज्ञानी अभिमान में रेंगा रहने के कारण माया के चक्र में भटकता फिरता है, परन्तु भक्त निरभिमान होकर शीघ्र परमात्मा तक पहुँच जाता है। कबीर का भक्ति-मार्ग मगुणमार्ग से भिन्न है।

‘सगुण मार्ग’ राम अथवा कृष्ण की उपासना का आदेश देता है और कबीर का भक्ति-मार्ग व्यक्तिगत साधना द्वारा ही इष्ट तक पहुँचने का उपदेश करता है। तुलसी और सूर की तरह कबीर अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल पर लोकादर्श की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले नहीं थे। वे सदाचार और ज्ञान के

उन्होंने कहा भी है—

( १ ) ' निर्गुण राम निर्गुण राम जपहु रे भाई ।'

( २ ) ' दशरथ सुत तिहुँलोक धराना,  
रामनाम का भरम है आना ॥'

( ३ ) ' जाहि राम को कर्ता कहिये तिनहुँ को न काल न  
राखा ॥'

( ४ ) ' हृदया घमे तहि राम न जाना ।

पूरन निरा हस गति होई ।

है समीप संधि घूमै फोई ॥

परे मूरत नादाना तेने हरदम रामहि न जाना ॥'

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रकट है कि कबीर के 'राम' में कोई विशेषता है। उनका 'राम' हृदय में घमने वाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह लोकविशेष नियामी नहीं है। कबीर की यह भावना हिंदुओं की ब्रह्मभावना से मिलती है, परन्तु एक स्थान पर कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची है। निर्गुण भावना में भी उन्हें स्थूलभावना का आभास होता है और इसीलिए राम को निर्गुण और सगुण दोनों में ऊपर मानकर वे कहते हैं—

अला एके नूर उपनाया ताकी बेसी निदा ॥

ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मदा ॥

इससे प्रतीत होता है कि कबीर का 'नूर' रहस्यवादियों के 'अनन्त प्रकाश' का दूसरा नाम है। कबीर भी स्वयं रहस्यवादी था। इसका विचार हम आगे करेंगे, यहाँ पर यह ध्यान में

रखना आवश्यक है कि इन पंक्तियों में कबीर के ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

कबीर मूर्तिपूजा के उद्घाटनरोधी थे। उनके विचार में निराकार परमब्रह्म की मूर्ति निर्दिष्ट है, अतः मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना ग़रिब है। ऐसी पूजा करने वाले उनकी दृष्टि में ढोपी हैं, बने हुए हैं और दूध लाए योनियों में भटकते हुए नरक की सेवा करनेवाले हैं। इसीलिए बड़े व्यंगपूर्ण शब्दों में वे कहते हैं—

‘पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजु पहार’

कबीर का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र भक्ति है—

“कहै कबीर सदा नाहा भगति मुगति गति पाई रे ।”

मनमा, वाचा, कर्मणा भक्ति रखना ही उस तक पहुँचने का सुगम मार्ग है। वेना और उपनिषदों के पढ़ने से ही कोई पंडित नहीं हो जाता। वास्तव में पंडित यही है जिसने प्रेम के ढाँड़े अक्षर का पाठ पढ़ा हो। ज्ञानी अभिमान में रँग रहने के कारण माया के चक्कर में भटकता फिरता है, परन्तु भक्त निरभिमान होकर शीघ्र परमात्मा तक पहुँच जाता है। कबीर का भक्ति-मार्ग सगुणमार्ग से भिन्न है।

‘सगुण मार्ग’ राम अथवा कृष्ण की उपासना का आदेश देता है और कबीर का भक्ति-मार्ग व्यक्तिगत साधना द्वारा ही इष्ट तत्त्व पहुँचने का उपदेश करता है। तुलसी और सूर की तरह कबीर अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल पर लोकादर्श की मनोहर मूर्ति नहीं



रूप सूर्ये उपदेशा द्वारा भक्ति मार्ग की व्यवस्था करना चाहते थे। इसी कारण कबीर में वह अनेक रूपता एवं मधुरता नहीं है जो जायसी, सूर और तुलसी में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। जिस प्रकार किवान गर्मिया में वर्षा का नहीं, वरन् ताप का भूया होता है, उसी तरह कबीर 'स्वर्ग आनन्द' प्राप्त करने के लिए कष्ट-साधना क भूख थे। सूर और तुलसी की तरह उनका लक्ष्य एव शास्त्र मान्य-हृदय नहीं है। उनमें वह भावुकता और सहृदयता नहीं है जो परोक्ष सत्ता की ओर सफ़्त करनेवाले रमणीय दृश्यों का चित्र अंकित कर सके, परन्तु कबीर में भगवान की भावना का 'माधुर्य्य भाव' अवश्य विद्यमान है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है—

‘हरि मोर पीठ में राम की बहुरिया।’

‘राम की बहुरिया’ कभी तो प्रिय से मिलने की उदकठा और मार्ग की ठठिनता प्रकट करता है और कभी विरहवेदना का अनुभव करता है।

कबीर की शिक्षा है आत्म ज्ञान प्राप्त करना, जो आत्मा के आनन्द के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि है। यही माया सत्त्वगुण की अप्रधानता के कारण अविद्यारूप को ग्रहण कर लेती है। इसी कारण जीवत्मा चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया करती है। ग्रेहान वश जीवत्मा अपने (चेतन के) वरम आनन्द आत्मा को जड़ (विषयों) का धम मान लेता है, अर्थात् यह मुख मुँह विषयों से मिला है, ऐसा जान लेता है। इसीलिए आनन्दस्वरूप होते हुए भी वह अपार दुःख सागर में डूबा रहता है। उसे इस बधन से

मुक्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है सोपाधिक और निरुपाधिक। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है, इसलिए अपने स्वरूप को पहचानने के लिए निरुपाधिक ज्ञान आवश्यक है। आत्म साक्षात्कार के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। “ऋते ज्ञानानमुक्तिः ।”

कबीर कहते हैं कि यह नाम-रूपात्मक दृश्य जो चर्म-चक्षुओं को दिखाई देता है, जल का घड़ा है, जिसके बाहर भी ब्रह्म धारि है और भीतर भी। बाह्य-रूप का नाश होने पर जिस प्रकार बाहर और अंदर का जल मिल कर एक हो जाता है उसी प्रकार माया का पर्दा नीच से उठ जाने पर, आन्तरिक का ब्रह्म बाह्यस्थ ब्रह्म में समा जाता है—

जन में कुभ, कुभ में जल है बाहरि भीतर पानी ।

फूटा कुभ, जल जलहि समाना यहु तत तथो मियाती ॥

ससार की अनित्यता पर भी कबीर ने बहुत जोर दिया है। उनका आदेश है कि मनुष्य पानी के बुदबुदे की तरह छुएय है। जिस प्रकार प्रभाव होते ही तारे विलुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार काल आने पर यह जीवन-लीला भी आँखों के देखते-देखते समाप्त हो जाती है। कबीर कहते हैं—

ऐसा यह ससार है जस मेमर का फूल ।

दिन दस के व्योहार में झूठे रंग न भूल ॥

सँवर सुवना सेइया हुई ढेदी की आस ।

ढेदी फूटि चटाक दे सुवना चला उदास ॥

जु पड़ा हुआ मनुष्य अपनी ही बात सोचता है,

व्यक्तिगत बुद्धि एवं प्रतिभा का परिणाम है।

कबीर कमलाड को आह्वानर ममकते थे। उसके हिंदू मुसलमान की तरह माला जपने में कबीर को तनिक भी निरवास न था। ऐसे मनुष्या को वे शिक्षा देते हैं—

“ऐ मनुष्या, हाथ की माला को छोड़कर मन की माला पेंरो।”

कबीर जल सत्य के उपासक थे। उन्होंने किसी नामधारी व्रत में अपने का नहीं रखा। मुसलमानों के रोजा, नमाज, ताजिन्दारी और हिंदुओं के आहु, गंगादशो, तीर्थ, व्रत आदि सभी की उन्होंने भरपेट निंदा की है। हिंदुओं की जाति-पाति, छुआछूत, ग्यान पान के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लडकी व्याहने, मुसलमानों आदि कराने का उन्होंने घोर विरोध किया है। पितरों का जल से तर्पण करना हिंदुओं में एक साधारण बात है, परन्तु कबीर का इस पर भी विश्वास न था। एक दिन जब वे नदी में स्नान कर रहे थे, उन्होंने कुछ हिंदुओं को तर्पण करत देखा। उन्हें देखकर उन्होंने भी पश्चिम की ओर जल डालना आरम्भ कर दिया। उन हिंदुओं में से एक ने यह देखकर पूछा—ऐ जुलाहे! यह तू क्या कर रहा है?

कबीर ने उत्तर दिया—मैं एक गेत को सांच रहा हूँ, जो यहाँ से दूर है।

इस पर सब लोग हँसने लगे और कबीर को मूर्ख मताने लगे।

कबीर ने कहा—तुम मुझसे बढकर मूर्ख हो; क्योंकि तुम तो पैकुण्ठासी पूर्वजा को जल पहुँचाना चाहते हो।” ६४

करीर कहते हैं—टाढ़ी-मूँछ मुडाने से क्या होता है ? यदि मुडाना है तो मन को मुडाओ, अपनी वामनाओं के ऊपर राज्य करो। उमी के अंदर गैतान अपना प्रभुत्व जमाये बठा है।

माला तिलक लगाइके, भक्ति न आई हाथ।

टाढ़ी मूँछ मुडाइके, चल दुती के माघ ॥

कबीर उन छानियों में से नहीं थे, जो हाथ-पात्र समेटकर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार जनकर रहते हैं। वे परिश्रम का रहस्य जानते थे और अपनी जीविका के लिए अपने ही हाथ का आभार रखते थे। थाड़े में ही सत्पाप करो का उन्होंने उपदेश दिया है। धन धरती जोड़ना उनकी धृति के विरुद्ध था। उन्होंने कहा भी है—

काहे फूँ भीत बनाऊ टाढ़ी, का जाएँ कहँ परिहँ माटी।  
काहे को मंदिर मल्ल चिनाऊ, मूवाँ पीछे घड़ी एक रहन न पाऊ ॥  
काहे को छाऊ उच उचरा, सादे तीन हाथ घर मेरा।  
काहे करीर गरन न कीजै, जेता तन तैती भुईं लीज ॥

कबीर ने कथनी और करनी का भी खूब निवेदन किया है। वे कहते हैं—ससार में कहनेवाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु उसको करनेवाला कोई विरला ही मिलता है। कहना सोंड के समान मीठा लगता है और करना विष के समान फड़वा, परन्तु कर्म करनेवालों को विष भी अमृत हो जाता है।

कबीर के विषय में दूसरा प्रश्न उठता है—हिन्दी साहित्य में कवि कबीर का स्थान कौन सा है ? उत्तर में निवेदन है कि कबीर की कविता का सम्बन्ध रहस्यवाद से है। अतएव बिना यह समझे हुए कि रहस्यवाद क्या है, इसका निर्णय नहीं



कर मकत । हम यह मानते हैं कि कबीर के काव्य में रोचकता का हास है उनकी भाषा अस्मर है, उसमें नार्शनिक पदों का ही प्राहुल्य है और वे पद भी अधिकतर पिंगलशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं हैं, परन्तु कबीर में महान् कवि के सब लक्षण विद्यमान हैं । उनमें प्रतिभा है, मौलिकता है, ओज है, गाम्भीर्य है । उनके काव्य में उनका हृदय प्रतिनिव्यित है अपनी निजी कल्पना का जीता-जागता चित्र है, अपना निजी सदेश है । उनके काव्य में कोमलकान्त पदावली का अभाव अवश्य है । यदि आध्यात्मिकता को भौतिकता से श्रेष्ठ ठहराया जाय, तो कबीर का स्थान हिन्दी साहित्य-कानन में वही है, जो मूर और तुलसी का है । और यदि रहस्यवादियों की दृष्टि से देखा जाय, तो यह निर्विवाद है कि कबीर का स्थान जायसी से भी अधिक उँचा है ।

अब हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि रहस्यवाद क्या है और कबीर का रहस्यवाद किस प्रकार का है ।

इस मसार-चक्र का परिचालन एक अद्भुत अज्ञात शक्ति करती है, इसका अनुभव मनुष्य अनादि काल से करता चला आ रहा है । इस अज्ञात शक्ति का मनुष्य से क्या नाता है, इसी का ज्ञान रहस्यवाद का अंतिम लक्ष्य है । अनन्त के सम्पर्क में आने तथा उस "सत्ता" को अपने इन नगे छोटे छोटे हाथों से पकड़ लेने की अभिलाषा उत्पन्न होना रहस्यवाद की सीढ़ी पर पेर रखना है । रूपहीन चिन्तन द्वारा अपनी आत्मा की परान्तता में एक ऐसी शक्ति के आभास का अनुभव करना ही रहस्यवाद का अन्तिम लक्ष्य है । रहस्यवाद कोई मोल ली जाने वाली मोतियों की लड़ी नहीं है । यह वह पापाण-क्षेत्र है, जहाँ घोड़ा सा गोदने पर ही भ्रमात्मक

पथर निरुलने लगते हैं और जहाँ सच्चे हीरे पाने के लिए खोदनेवाले को बड़े परिश्रम एवं धैर्य की आवश्यकता होती है। जीवन के पूर्णाङ्क सम्पर्क में आने पर ही हम उसके भाव तथा तात्पर्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जीवन के आदि मर्गीत का अनुभव कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह तभी सम्भव है जब हम अपने भावों और विचारों को समित्त कर 'वास्तविकता' के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेने वाले मनुष्यों के अनुभवों का सहारा लें। ये कवि हैं, सिद्ध हैं, भविष्यवादी हैं। ये वे लोग हैं जो अपने ऋषि-चतुष्टो से उस 'अनन्त-प्रकाश' का दर्शन कर चुके हैं। ये विकारहीन विचारों के प्रभु हैं, और अपनी अद्भुत, आत्मिक एवं मानसिक शक्तियों के पूर्ण विकास के कारण उस अतर्ज्ञान के अविपत्ति हैं, जो भावात्मक वस्तुओं तक पहुँचने का एकमात्र साधन है।

रहस्यवाद का विकास कुछ इस प्रकार होता है—

मनुष्य किसी वस्तु की खोज में घूमता फिरता है, सहसा उसे एक तजहोण ज्योति का आभास मिलता है। उसे प्रतीत होता है कि ज्ञान और बुद्धि दोनों उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। बस, वह जीवन की वास्तविकताओं को भूल जाता है और मानसिक क्षेत्र की सुद्धम प्रवृत्तियों उसे अपनी ओर खींच ले जाती हैं। साधारण भाषा में कहना होगा कि वह 'खो' जाता है। उसकी आत्मा उस 'अनन्त ज्योति' से इतनी प्रकाशित हो जाती है कि उसको अपने पूर्वजन्म की तनिक भी स्मृति नहीं रहती। जिस समय ज्ञानी इस दशा को पहुँच जाता है, उस समय वह पक्का रहस्यवादी हो जाता है। उस समय वृत्त का होलना नये

वृद्धावस्था न कम्पन का स्मरण दिताता है, उसपर बैठनेवाला पक्षी उसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप जान पड़ते हैं और उस वृक्ष को काटनेवाला बढ़ई काल के रूप में उसके सामने प्रस्तुत होता है। कबीर ने इसी रहस्य को देखकर एक स्थान पर कहा है—

यादी आवत देखि करि तरंग डोलन लाग ।

हम कटे की कुछ नहीं, पसेरु घर भाग ॥

साय प्रात न जान कितन लाग मेघ गडों को रक्त-धर्य होत देखत हैं, पर ये किस अनुराग से लाल हैं इसे कोई रहस्यवादी ही बता सकता है। मालिया का फूल तोड़कर एक स्थान पर रख देना जोन नहीं देखता। परन्तु कबीर जैसे रहस्यवादी ही उसमें ससार की अनित्यता का आभास पाकर कह सकते हैं—

माली आवत देखि के कलियों करें पुकारि ।

खिली खिली ता चुन लई अब काल्ह हमारी धारि ॥

कबीर ब्रह्म व जिज्ञासू हैं। जिज्ञासा का सम्यन्व आत्म-ज्ञान से है। “जब जिज्ञासू ज्ञानी की कोट पर पहुँचकर कवि होना चाहता है, तो स्वभावतया उसका ध्यान रहस्यवाद की ओर झुक पड़ता है। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता-क्षेत्र में आकर भावुक्तता और कल्पना का आगार पकड़कर इस रहस्यवाद का रूप पकड़ लेता है।” इसी समय उसकी दृष्टि में सृष्टि की प्रत्यक्ष वस्तु हमारी से एक अस्पष्ट सम्बन्ध से जकड़ी हुई दिखाई पड़ता है। ऐसे समय कवि की भी सहृदयता अनन्य हृदयता का रूप धारण कर लेती है और झरनों में, निर्जन वन में, मर्मर करत हुए वानरों में, पुष्पों के पराग की गंध में, सुग्ध पवन के मृदुल झोंकों में, भक्त को कवल अपने ही प्रियतम की

मधुर वाणी सुनाई देती है। वह खिले हुए फूलों में, रमणी के सस्मित आनन में, सुन्दर मेघ-माला में, निखरे हुए चन्द्र बिम्ब में, अपने प्रियतम के सौंदर्य का, गम्भीर मेघ-गर्जन में, विजनी की कड़क में, वज्रपात में, भूकम्प में उसकी रौद्र-मूर्ति का, ससार के असामान्य बीरो में शक्ति का और परोपकारियों, त्यागियों एव माता के स्नेह-पूर्ण चुम्बन में उसकी शीलता, वत्सलता आदि का साक्षात्कार करता है।

रहस्यवादी विशेषतया चार प्रकार के होते हैं—

(१) भक्ति-उपासक—इनके विचार में सन्यासी होकर परमात्मा का भजन करना ही सफलता की कुजी है। आत्मिक एव शारीरिक धन, निर्दिष्टता, वीरतासूचक साहस, तीक्ष्ण बुद्धि, तीक्ष्ण व्यग्र यही इनके साम्य के लक्षण हैं।

(२) दार्शनिक—ये सन्यासी होकर ससार परित्याग करने के नहीं, बरन् घर पर ही विरक्त जीवन व्यतीत करने के पक्षपाती हैं।

(३) प्रकृति उपासक—य फूलों और पत्तों ही में परमात्मा का साम्राज्य देखते हैं। इनका मत है कि मनुष्यात्मा पहल प्रकृति ही में ईश्वर का अन्वेषण करती है। उसका सबसे पहला ईश्वर-ज्ञान प्रकृति ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसकी सत्र से पहली पूजा प्रकृति पूजा ही है। वह प्रत्यक्ष पदार्थ का पूजन करती है, जो उसमें आश्चर्य और कृतज्ञता का संचार करे। यह प्रकृति का पूजन न तो विश्वदेववाद ही है और न अनेकदेववाद ही। यह तो केवल अपरिमित शक्ति का पूजन है, अर्थात् साधारण ईश्वर-वाद तथा आस्तिकता है। हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

हम कबीर का इस तीसरी श्रेणी में रखने के लिए प्रस्तुत नहा हैं। प्राकृतिक सौंदर्य हृदय में उपासना का भाव जागृत कर नेता है, वामनाएँ शांत हो जाती हैं। कबीर इस भक्ति-भाव में प्रेरित अवश्य हुए थे, परन्तु चित्त की शान्ति ही वास्तविक सौंदर्य है, कबीर इससे अनभिज्ञ नहीं थे। यह शांति उन्हें फलों और फूलों में प्राप्त न हो सकी। हाँ, इन सब ने भक्ति भावना की ओर कबीर का ध्यान आकर्षित अवश्य कर दिया।

( २ ) प्रेमोपासक—इनके अनुसार 'अज्ञात' से मिलाने का उपाय एक मात्र प्रेम है। इनके मतानुसार प्रेम केवल उच्छ्वास मात्र ही नहीं है, घबराहट एक निग्रहसाधन भी है। इस मत के अनुयायी ब्रह्म की भावना अनन्त सौंदर्य और अनन्त गुण-सम्पन्न प्रियतम के रूप में करते हैं। यही सूफी मत है। सूफी लोग ब्रह्मानन्द का वर्णन लौकिक प्रेमानन्द के रूप में करते हैं और इस प्रेम में शराब, मद आदि को भी ले आते हैं। कबीर के ऊपर भी इस रंग का काफी असर है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। आधुनिक प्रेम मस्त प्राणियों की, इच्छा कायर की समर-लालसा है, जो दुहरी की ललकार सुनते ही त्रिजुग हो जाती है, परन्तु कबीर प्रेम मस्त प्राणियों में से हैं। कबीर के प्रेम में ममत्व नहीं, परन्तु आत्म समर्पण है। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रियतम से साक्षात्कार होने पर कबीर कहते हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।

लाली देखन मैं गढ़ मैं ही हो गई लाल ॥

प्रेम की इसी शुद्ध एवं उच्चतम अवस्था में प्रियतम के प्रेमानुराग में स्मृतिमय होकर प्रेमी आह्लादित हो गाने लगता है—

हमन हैं इस्क मस्ताना हमन को होमियारी क्या ।

रहैं आजाद या जग में, हमन दुनियाँ से यारी क्या ॥

जो निछुड़े हैं पियारे से भटकते दर उदर फिरत ।

हमारा थार है हमसे हमन को इतजारी क्या ॥

न पल निछुड़े पिया हमसे, न हम निछुड़े पियारे से ।

उन्हीं में नेह लागी है हमन को धररारी क्या ॥

करीरा इस्क का माता, दुई को दूरकर विल से ।

जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर जोक भारी क्या ॥

हे परमात्मन् ! क्या इस मनोराज्य में हमें भी स्थान मिलेगा ? क्या यह हलका हलका नशा हम पर चढ़ेगा ? अनिर्वचनीय आनन्द की यह भीनी कलक क्या कभी हमें भी देखने के लिए मिलेगी ? आह !

सो दिन कैसा होयगा गुरू गहिगे बाँह ।

अपनाकर बैठायाहिं चरन कमल की बाँह ॥

—सोमनाथ गुप्त

( २९ )

## विज्ञान और भक्ति

आजकल शिक्षित-समाज में पाश्चात्य विज्ञान की बड़ी प्रतिष्ठा है। यह प्रतिष्ठा दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। यह किसी बंदर उचित भी है। क्योंकि मनुष्य आधुनिक विज्ञान को अपने सुख का साधन बनाता जा रहा है। भूमण्डल का बढ़ता हुआ अन्तर्वाणिज्य-व्यवहार चित्रित शास्त्र के नए नए परमोपयोगी आविष्कार, वायरलेस टेलीग्राफी और विमान इत्यादि विज्ञान की उपयोगिता भली भाँति सिद्ध कर रहे हैं। जहाँ एक ओर सुख और आसानिया बढ़ती जा रही हैं, शीघ्रगामी यानों की रचना करके जहाँ मनुष्य दूरी को छोटा और समय को लम्बा करने में लगा है, जहाँ उसने प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण से बुद्धि के इतिहास को चमत्कारों से भर दिया है, वहाँ विज्ञान से अद्भुत सहायकारक शक्तियाँ भी प्रकट हो रही हैं, जिनसे हुई और होने वाली हानियों का अन्दाजा भी नहीं किया जा सकता। जिन्होंने गत योरोपाय महायुद्ध को देखा या उसका इतिहास पढ़ा है, वे आधुनिक विज्ञान के हानिकारी प्रभाव से अच्छी तरह परिचित हैं। महाभारत के बाद भूमण्डल पर यह सब से बड़ा साम्राज्य हुआ है। इस लड़ाई के कारण पड़ा हुई बीमारियाँ से भी बहुत से लोग मर गए। पृथ्वी पर दुःख और दारिद्र्य की कल्पनातीत वृद्धि हुई। इसलिये जोड़े में यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि मनुष्य विज्ञान से सुख और दुःख दोनों उठा रहा है।





वैज्ञानिक विचार और मिथ्या सन्तोष नहीं देती। मासार्थिक प्रीति भी कोई मत्था मत्था नहीं देती। किसी सर्वोत्तम और अन्तरे जीवन की यहा निम्ना मात्र ही नहीं, बरन उसकी वृद्ध विद्वन्मना प्रतीत होती है। विज्ञान से हम वह पदार्थ प्राप्त करना चाहते हैं, जो हमें नव तरह से भरपूर कर दे। किन्तु यह केवल तन्मात्र के विज्ञान से अभाध्य है। केवल भक्ति ही ससार में उस कमी को पूरा करती है। यह महामत अर्थात् मिथ्यान्त भारत में बहुत पहले से प्रचलित है। आधुनिक विज्ञान भी अन्त में इसी मत का समर्थन करता है। इस विषय पर हम कुछ विस्तार से विचार करना चाहते हैं।

फिरने ही लोगों का यह स्थान है कि भारतवर्ष में कभी विज्ञान की चर्चा थी ही नहीं। यदि थी भी तो इतनी सूक्ष्म और भरपूर कदापि न थी जितनी आनकल पाश्चात्य देशों में है। कुछ लोग इस भ्रम में भी हैं कि ज्ञान और विज्ञान से भक्ति नीची है और अपद मनुष्यों को लाभदायक है, तथा ज्ञानी और विज्ञानी को भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। विचार करने पर ये कथन असत्य सिद्ध होते हैं। सच पढ़िये तो पाश्चात्य विज्ञान का स्वरूप अभी स्थूल और अस्थिर है और सत्य से कौनों दूर है। आजकल ऐसे लोग और पुस्तकें प्रकाशित होने लगी हैं जिनके पढ़ने से मालूम होता है कि वैज्ञानिक विचार दिन दिन बढ़ते जा रहे हैं। उदाहरण के लिये पदार्थ विज्ञान की रूढ़िवादी को लीजिए। जो वस्तु पाश्चात्य देशों में कल अक्षोभ्य मानी जाती थी, वे ही आज त्रियोन्न सिद्ध हो रही हैं। रेडियम और प्लेक्ट्रान का पता चलने से वैज्ञानिक प्रमेयों में बड़े बड़े परिवर्तन

हो गए हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड अत्र दो पृथक् पदार्थ नहीं माने जाते। भारत के अशिक्षित और ग्रामीण जन भी परम्परा से इस सत्य में नाची हैं। वे साधारण बोलचाल में वह उठते हैं—  
‘पिण्डे मा ब्रह्माण्डे’ ।

ससार में सभी पदार्थों का आधार एकमात्र आकर्षण शक्ति अथवा मन सिद्ध हो रहा है। क्या आश्चर्य, जो एक त्ति ऐसा भी आगे जय समस्त वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुभवा की परामर्श भक्ति ही रह जाय, मनुष्य मात्र का लक्ष्य एक भक्ति ही माना जाय। केवल वैज्ञानिक चर्चा पंचभौतिक आकर्षण, विनिमय उनके अणुओं, प्रत्यङ्गों और लक्ष्यों की आश्चर्यमयी बातों आधुनिक विज्ञान की अनेक पुस्तकों में पढ़ी जा सकती हैं। किन्तु यह धार्मिक असलियत को नहीं जाहिर करती। यह सृष्टि की उत्पत्ति के आदि कारण और अन्तिम परिणाम पर जग भी रोशनी नहीं डालती। पाश्चात्य विज्ञान से अभी तक हमें कोई भी वस्तु नहीं प्राप्त हुई जो हमें परिपूर्ण और मनुष्य के लिए बलिक उल्टे वह हमें नित्यश सुखाचारी बनाता जा रहा है। आधुनिक विज्ञान की उदीलत हम लाखों मील दूर की चीजों में अत्यन्त निकट देख सकते हैं, हजारों मील दूर घंटाघर बानें कर और सुन सकते हैं, जड़ पदार्थों से मनुष्य की भावों की प्रतिबिम्बित सुन सकते हैं आकाश में उड़ सकते हैं, समुद्र का डाना और अन्तस्तल पर गर्व के साथ विचरण कर सकते हैं, सैकड़ों मील तक गोले फेंक सकते हैं, मिनटों और घंटों में लाखों प्राणियों की हत्या और गगनचुम्बी अद्वैतिकाओं में पूर्ण रूप से

को पिथ्वस कर सकते हैं, पल भर में दूर, जगत् का चित्र खींच कर नेत्र को वृत्त कर सकते हैं, विद्युत् से भाव दिला सकते हैं, ऐक्सरेज से शरीर के भीतर का दृश्य देख सकते हैं, श्वेत जोतना, बौना, काटना, माड़ना, ओसाना, बीजों में इच्छानुसृत रंग, स्वाद उत्पन्न करना, फलों को बड़ा तथा अधिक कर लेना आदि बहुत सी बातें विज्ञान ने हमारे लिये सुलभ कर दी हैं। हम सुन्दर, रंग बिरंगे, चमकीले वस्त्रों से अपने शरीर को तितली की तरह मजा सकते हैं, यन्त्रों से भोजन बना सकते हैं। इन सब का सारांश यह है कि हमने विद्युत्, अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी की स्थूल शक्ति पर विजय प्राप्त कर ली है, हम इनसे नौकर का काम ले सकते हैं, और इनकी सहायता से हमें भोग-विलास की प्रचुर सामग्री आसानी से मिलने लगी है। पर राजसी ठाठ बाढ़ के साथ-साथ अत्यन्त विकराल राजरोग भी बढ़ते जा रहे हैं। पहले लोग पृथिवी को सराय और मनुष्य को उसमें ठहरने वाला मुमाफिर कहा करते थे। जैसे—

ककड़ चुन-चुन महल बनाया लोग वहाँ घर मेरा है।  
ना घर तेरा ना घर मेरा चिड़िया रेन नसेरा है ॥

✽ ✽ ✽  
आय है मो जायगी, राजा रङ्ग फकीर।  
एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बाँधे जजोर ॥

✽ ✽ ✽  
यह ससार भाड़ ओर भँवर आग लगे बरि जाना है।  
कहत 'कमीर' सुनो भाई साथो सतगुरु नाम ठिकाना है ॥

✽ ✽ ✽

चटाउ र चलना आजि कि कालि ।

ममुक्ति न देये कहा सुखि मोवे रे मन राम सेंभालि ॥

जैसे तरुवर विरम प्रसेरा पछी बेटे आइ ।

ऐसे यहू सब हाट पसारा आप आप को जाइ ॥

अत्र लोग पृथ्वी को अस्पताल और मनुष्य को उस में कराह कराह कर मरने वाला रोगी कहने लगे हैं। यह उन पाश्चात्य महापुरुषों के श्रुतियों से कहा गया है जिनको सासारिक ऐश्वर्य और भोग-विलास अब गर्हित प्रतीत हुए हैं।

सासारिक सिद्धियां सचमुच लाभदायक होने का एतबार नहीं दिलाती। इसकी ग्रास यह है कि विज्ञान अभी अपनी उच्च और अन्तिम अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ। सासारिक सम्पत्ति को मनुष्य जीते जी फूँक तापता है, अन्त में मृत्यु की अधियारी देखकर हताश हो जाता है। सूरदास ने ससार से भयभीत हो पुकारा था—

अत्र के नाथ मोहि उधारि ।

भग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपासिन्धु मुरारि ॥

नीर अति गम्भीर माया लोभ लहरि तरंग ।

लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनङ्ग ॥

आधुनिक विज्ञान हमारे मन को इस पुकार की ओर जाने ही नहीं देता। हम समझते हैं कि हम प्रकृति पर विजय प्राप्त करत जा रहे हैं, पर तथ्य यह है कि हम प्रकृति के जाल में और पँवते जा रहे हैं। हम मनुष्य-जीवन के लक्ष्य से बहुत दूर चले जा रहे हैं। प्रकृति हमें नास्तिकता के उस घने अन्धकारमय वन में छोड़ देगी, जहाँ से निकलने का हमें मार्ग न मिलेगा और हम फिर चौरासी लाख के चक्र में जा पड़ेंगे।

## प्रकृति-सौन्दर्य

विश्वम्भर की अपार अनुकम्पा से अखिल प्रकृति सौंदर्य ही मौदय से परिपूरित है। रजनो का अग्रसान होने को है। उपा रानी आती है। मागो प्रिय नगो निशा रागो परदेश चली है उसे मिलने आ रही है। 'यह क्या? आँसुओं की झड़ी? आ गहिन गले मिल लें, अहा वहिन उपा! निशा! क्या कहें? न जाने फिर नव मिलें।'

निशा चली गई। उपा का योजन गिल उठा। प्रवश्याय-निन्दु कुश, काश और मृदु दूर्य पर पड़े हैं मानो हरी सखमल पर धवल मोती जड़े हैं। यह दृश्य देव प्रकृति प्रेमी के लोचनारविन्द भी तत्क्षण ही आनन्दाश्रुओं से सुशोभित होते हैं। प्रवश्याय से कुम्हलाइ दूर पुन नतनता लाभ करके तन जाती है, मानो धरित्री देवी को उपा के अश्रुओं से रोमाञ्च हो आया हो। यह देव किम मनुज के रोमाञ्च नहीं हाता?

उपर देखिए-चन्द्ररान जान लेकर भाग रहे हैं, अरे! रे! भागो, भागो, महाप्रतापी भाम्बर देव का सेनापति अरुण आ पहुँचा। अरुण ही अरुण सत्र नृष्टिगोचर होता है। पेड, पल्लव, शारदा, नन्दी-जन, पुलिन, तट, पशु पक्षी आदि अखिल पदार्थ अरणिमामय हैं। भगवान् भास्कर का साम्राज्य स्थापित हुआ जान -सके पक्ष समय न हृदय-कमल विकसित हो रहे हैं। अहो! इधर कौन मन मारे, उदाम और मुक्त पेठा है? ठीक है, चन्द्रगज के भक्त-हृदय उमुद भुरम्मा गये हैं। ओह! प्रभात

काल की इतनी शोभा हृदय में सम्भाली न जाती थी। उस पर राग-रुन के फलरस ने निरपिन् जगतीतल को मुखरित कर दिया। प्रभात की शोभा ने उसके रूप को, उसके सौंदर्य को, उसकी मधुरिमा को द्विगुणित कर दिया, मानों अति मधुर रसाल के रसीले रस में इक्षुग्म घोल दिया हो। हृदय आप्लावित हो गया। अब भौंति भौंति व फून पूर्णतया फून गये हैं। इधर गुलाब है तो उधर मौलमिरी। कहीं केतकी है। कहीं जूही, चमेली, नर्गिस। सब अपनी-अपनी छटा में विश्व भर को विमादित करने में लगे हैं। अमनतास के फूलों के लम्बे कोम भर दूर से ही रूप और सुरभि में यज्ञ आर्पित कर रहे हैं। मधुकर मधुर मधु से गिरे पुष्पा की ओर उड़े जा रहे हैं।

प्रीप्ति ऋतु है। सरिता-तट सब को मुहाता है। मस्तानी चाल से भ्रमती हुई हथिनी की तरह नदी बही जा रही है। 'तटिनी। क्यों? कहा लौड़ी जा रही हो। पर्वत ने कोई सन्देश दिया है जो वारिष्ठा को सुनाने जा रही हो? हैं। क्या कहा? अन्ध्रा पितृगृह से पतिगोह जाती हो। सुनो तो। नहीं, इस समय क्यों ठहरोगी, ऐसे समय को ठरता है? अन्ध्रा जाओ। कल्याणी। अपने स्निग्ध शीतल सलिलामृत से दुःख दाग दग्न जना को पुनरुज्जीवित करती जाना। तुम्हीं अन्नपूर्णा हो। हमारे खेत हरे भरे करती जाना।' अहो! अकम्मान् ये शान्त नदी व सौंदर्य को अनुभव करने वाले मनुज के हृदय से निकल पड़ते हैं।

पर्वत पर तो मानो प्रकृति नटी पूर्ण शृंगार करके नृत्य कर रही है। इधर पर्वत शृंग सब आत्माभिमानी के समान सिर चढाये खड़े हैं, तो इधर मर-मर-मर-मर करता निर्भर दिग्दिगन्त

( ३१ )

## हिन्दी साहित्य में हास्य-रस

साहित्याचार्या की बहुसंख्या रमात्मक वाक्य या वाक्य-ममूह को राज्य अंगीकार करती है। रस के नौ भेदों में हास्य रस का भी अपना स्थान है। यद्यपि साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में हास्य-रस प्रायः शृंगार आदि का पोषक ही दृष्टिगोचर होता है, तथापि इसमें कोई सार नहीं कि प्राचीन कवियों और साहित्यानुगणियों के मानस कवच शृंगार, वीर, करुण आदि रसों में ही लगते थे। पृथ्वीराज रासो आदि वीर काव्यों तक में क्वचित् क्वचित् इसकी छुट्टी पाई जाती है। अमीर खुसरो की मुक़रिया और पहेलियों में आने वाला हास्य भी अविस्मरणीय है। वीरगाथा काल को लाघते ही भक्ति माल की निर्गुण धारा का ज्ञानाश्रयी कवि फरीद साहब की कविताओं में भी हास्य प्रस्तुति दृष्टिगोचर होता है। “अरे इन दुहन राह नहीं पाई” आदि में हिन्दु और मुसलमान दोनों के लिए मीठी चुटकी ली है। बल्लभ स्वामी द्वारा स्थापित अष्ट-ध्याप के कवियों के भक्ति ग्रन्थों में हास्य-रस का विलास न भी हो तो भी स्मित तो ठोर ठोर पर है। महाकवि मूरदास जब अपने इष्ट, अपने प्रभु कृष्ण से प्रेम-भक्तिमय हास्य करने से नहीं चूरते तो अष्टध्याप के आठों कवियों का दरबार लगने पर वाक्यचर्चा में अवश्य ही नटकहे चलते होंगे। मूरदास अपने आराध्य देव को हास्यपूर्ण धमकी देते हैं—“अब हौं उंचरि नचन चाहत हौं। तुम्हें निरद

‘निन करिहों’, कृष्ण के मुख से ‘बाल बाल सत्र वैर परे हे  
नरनस मुख लपटायो, मेया मैं नहीं माखन खायो’ कहलाना भी  
हास्य रस से रिक्त नहीं है। सन्त कवि तुलसीदास का भक्त-हृदय  
भी हास्य का स्वाद लेता था। रामचरितमानस में परशुराम की  
गर्वभरी नहकी चहकी बातें सुन कर—

“रहेउ लपण मुनि सील तुम्हारा । को नहि जान प्रियत ससारा ॥  
मातुहिं पितुहिं उरिउ भये नीके । गुरुनि रहा सोच बड जीके ॥  
सो जनु हमरेहि माथे काढा । दिन चलि गयउ व्याज बहु बाढा ॥  
अब आनिय व्यवहरिया बोली । तुरत देउं मैं धौली रौली ॥”

अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री कवि बीरबल भी बड़े प्रियदर्शी थे।  
उनकी उक्तियों और फरितियों पर बड़े बड़े दरबारों में कहकहे  
चलते रहे, पर वास्तव में पुस्तक रूप में हिन्दी-साहित्य को उनसे  
यह हास्य नहीं मिला। फुटकर रूप से भले ही दो चार चीजें  
मिली हों। फशब, रहीम, बेनी और गिहारी आदि की रचनाओं  
में भी कहीं कहीं हास्यरस पाया जाता है—

“तुमहूँ फान्ह मनो भये आजु काल्हि के दानि ॥” बिहारी  
अठारहवीं शताब्दी में अलीमुद्दिन खॉं (प्रोक्त कवि) ने  
‘एदमल घाईसी’ नामक पुस्तक लिखी। केवल हास्य के पृथक्  
ग्रन्थ के रूप में सम्भवतः हिन्दी में यह पहली रचना है। एक  
उदाहरण—

“जागत के कारन करन, करन चारों वेदन के,  
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरिकै ।  
पोपन अवनि दुख सोपन तिलोकन के,  
समुद्र में जाय सोए सेस सेज करिकै ॥



मदन जरायो, जो सहारें दृष्टि ही में मृष्टि,

चसे हैं पहारि षोऊ भाजी हरपरिकै।

विधि हरि हर ओर इनते न कोऊ, तेऊ,

रगट प न मोरैं रगटमलन का हरिकै ॥”

भारतन्दु हरिश्चन्द्र जी ने प्रायः साहित्य के प्रत्येक अंग को हाथ लगाया था, पर हास्य के तो वे अवतार थे। होली आदि के अप्रमर पर कोई न कोई हास्य का सामान जुटा कर ही उन्हें चैन पड़ता था। उन्होंने कई ‘चन जोर गरम’ और ‘धूरा बडा मसालदार’ के लटक बनाये हुए थे। प्रतापनारायण मिश्र जी की लेखिनी ता मानो हँसी के फूल खिलेरा करती थी। उनके हास्य रस के दो तीन उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

“हाय बुढ़ापा तोरे मार हम तो हँ नरन्याय गयन”

‘दादी ही पर यहि बहि आये ररों तमासू जो फाकन’

मिश्र जी के गद्य और पद्य दोनों में हास्य और व्यङ्ग्य इतने सुदृग्माने माले हैं कि पढ़ते ही मनता है। मिश्र जी के हास्यपूर्ण गद्य का एक नमूना देखिये—

‘भला हमारी बातों में तुम्हारे मुँह से हिहि ता निकली। इस तोमड़ा से लटक हुए मुँह के टाका के समान दो तीन दात तो निकले। देखो, आगे मट्टी के तेल की रोशनी और उल्लिह्या की पेनक की चमक से चौंधिया न गई हो तो देखो। इसी से कहते हैं भया मान जाव, राजा मान जाव, मुत्रा मान जाव ॥”

कविता कामिनी कान्त नाथूराम शर्मा की ‘वायसविजय’ और ‘गभरएडारहस्य’ पुस्तकों में हास्य पर्याप्त है। होली के भड्डों पर उन्होंने अपनी कविता में खूब फनतिया कसी हैं। पञ्चपुकार सुनि—

“ठेके पर लेकर बेतराही, दे कर दाढ़ी मूछ ।

वाटर-गार्डसिकल के द्वारा गिना गाय की पूछ ॥

मरो को पार उतारूँगा । किसी से कभी न हारूँगा ॥”

आप अपनी ग्रामीण भाषा में भी हास्य की कविता लिख  
मारते थे । एक उदाहरण—

“हिल मिल पोंगा पञ्च, कते अत निचे जाने ।

हम हिन्दू न असत्त, आरिया मत को माने ॥

धो निसार कुल रीत, गिगारें गल पुरानी ।

ठाकुर पकरे वॉच, करे रन्दा ठकुरानी ॥

माँ मनमानी माया मिले, माँ ग़ातर भरपूर हो ।

छैको तु सरर जात ने, योल “नमसते” दूर हो ॥”

यहाँ तक तो हुई पुरानी बात । अब नई माँकी भी देखिये ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में हास्य-रस के तीन प्रकार के लेखक  
हैं । पहले वे जो पात्रों के उलटे सीपे नाम, बमाचौन्डी, मारपीट,  
बोलबप्पा आदि क वर्णन द्वारा अथवा अश्लीलता के पाम पास  
पहुँचने वाले या यों कहिए कि अशिष्ट हास्य द्वारा जनता की  
घाहवाही लूटने और उनकी जेबों से धन निकलवाने की विद्या  
में कुशल हैं । साधारण जनता ऐसे लेखकों को बहुत चाहती है,  
अतः ऐसे लेखकों की पुस्तकों के शीघ्र शीघ्र सस्करण हुआ  
करते हैं । साहित्यिक हास्य के नाम पर सूखे और सकील  
भाज फेंकना और अपनी पुस्तकों को दीमक का घास बनाना  
अनुचित है, पर समाज क आचरण और रुचि को निम्न  
करने वाले हास्य को साहित्य में स्थान देना ठीक नहीं ।  
रोगी को ज्वर है । उसकी रुचि आम का अचार खाने की है ।

“मुझे चोरते चोरत आपका हृदय इतना फटोर जन जाता है कि मृत्यु आपके लिए साधारण मी जान हो जाती है। शय शय्या के पाम आपका हृदय तनिक भी विचलित नहीं होता।”

हास्य ग्रन्थों का अनुवाद भी हिन्दी में होने लगा है - श्री जी० पी० श्रोत्रास्त्र ने कई प्रहसनों का अन्य भाषाओं से अनुवाद किया है। डा० लक्ष्मण स्वरूपनी द्वारा अनूचित मोलियर का ‘घनिया चला नया न की चाल’ नामक प्रहसन उत्कृष्ट और शिष्ट हास्य का नमूना है। ‘पशुराम’ महोदय के ‘मेडियाधसान’ और ‘लम्पकण’ का श्री अन्यकुमार जैन ने अनुवाद किया है। हास्य रस के ये दो अठे ग्रन्थ हैं। श्री श्री सिद्धेश्वरी लिमिटेड में बैठ गण्डेरीगम के तीन कौड़ी को ठेगा दिखाकर ‘कुद्र भी भी न्हा’ कहने पर तथा ‘एमी गत मिन्सार म ज्यू गाटर का ठाट’ आदि कहने पर हँसी बरसत रोके नहीं रुकती।

पुस्तकों, पत्र पत्रिकाओं में चुटकनों का प्रचार भी हास्य-रस की पूर्ति कर रहा है। एक नमूना देखिये—

‘सरकम वाला का एक शेर पिंजड़ा तोड़ कर भाग गया। वे उसे ढूँढ ढूँढ कर धक गए। दो दिन बाद एक देहाती शेर को कान से पकड़े हुए लाया और बोला—का साहज, ई निलाइती कुत्ता आप लोगन के हैं।”

हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। यह भारत की जनता के हृदय पर अधिकार पा रही है। इसमें सुचिपूर्ण हास्यरस का पूर्ण समावेश हो, यही कामना है।

—श्यामचन्द्र विशारद





